भारतवर्ष में जाति-भेद

भारतवर्ष में जातिभेद

आचार्य क्षितिमोहन सेन

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

निवेदन

किसी भी देश के सांस्कृतिक अध्ययन का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण अंग वहाँ के निवासी जातियों का अध्ययन है। क्योंकि संस्कृति परम्पराओं को लेकर विकसित होती है और परम्पराएं जातीय जीवन की विशेषताओं को लेकर निर्मित होती हैं। स्वभावतया इस धारा का अविछिन्न सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उसके आदिस्रोत से जुड़ा रहता है जो गतिशील एवं विकासशील है।

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतवर्ष में जातिभेद' का नवीन संस्करण है। इसमें किंचित् उपयोगी परिवर्त्तन दिखाई देगा। अब यह अपने प्रारंभिक रूप में नहीं रह गई है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "इसमें भारतवर्ष की सबसे बड़ी और अनन्य-साधारण समस्या जातिभेद की शास्त्रीय और वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना की गई है। इस विषय पर यह पहला प्रयत्न नहीं है, पर पाठक पढ़कर देखेंगे कि इस समस्या को आचार्य सेन ने बिल्कुल नये ढंग से देखा है। इसमें न तो वैज्ञानिक की तटस्थता है, न मिशनरी प्रचारक की उत्साहपूर्ण कलुषदर्शिता और न समाज-सुधारक की हाय-हाय की पुकार। ग्रन्थकार ने वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना करते समय भी यह भुला नहीं दिया कि भारतीय पाठक के लिए यह कुतूहल की वस्तु नहीं है, बल्कि जीवन-मरण का प्रश्न है। ग्रन्थ में सभी दृष्टियों से इस समस्या को समझने का प्रयत्न किया गया है—शास्त्रीय विकास, वैज्ञानिक भित्ति, धार्मिक प्रभाव, वर्त्तमान रूप; इत्यादि। इस पुस्तक से अनुसंधित्सु पाठक निश्चय ही सन्तोष पायेंगे।"

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

प्रकाशनाध्यक्ष

अग्रज-तुल्य परम श्रद्धेय

श्रीमत् पं० करुणाशङ्कर कुबेरजी भट्ट

के

कर कमलों में लेखक का

विनम्र श्रद्धोपहार

१. भारतवर्ष में और बाहर

यह सबकी आकांक्षा होती है कि औरों की अपेक्षा मेरा मान और गौरव अधिक समझा जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि में वंश-गौरव एक प्रधान साधन है, इसीलिये सभी देशों में इसे पाने और पाकर सुप्रतिष्ठित बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न दिखाई देते हैं। इसीलिये नाना देशों में नाना भाव से वंशगत कौलीन्य या जातिभेद की उत्पत्ति होती है।

मिश्र अत्यन्त प्राचीन सभ्यता का स्थान है। बहुत प्राचीन काल में यहाँ जमीन्दार, श्रमिक और क्रीतदास (गुलाम) ये तीन श्रेणियाँ थीं। धीरे-धीरे वहाँ योद्धा और पुरोहित का वंशगत गौरव बहुत ऊंचा माना जाने लगा और शिल्पी तथा क्रीतदास का स्थान उनके नीचे मान लिया गया। योद्धाओं और पुरोहितों में ही कोई-कोई लेखक भी हुए।

चीन में भी भद्रश्रेणी, किसान, शिल्पी और वणिक, ये चार श्रेणियाँ थीं। वणिक् का स्थान सबसे नीचे था। जापान में भी ये चार श्रेणियाँ थीं। एटा और हिनिन अन्त्यजों के समान थे।

लेकिन इन श्रेणियों में एक दूसरे के साथ मिलना-जुलना, खान-पान, छुआ-छूत और एक दूसरे में परिवर्तित होना असम्भव नहीं था। असम्भव देखा जाता है पृथ्वी के नाना असभ्य देशों में। जिस देश के आदमी जितनी ही आदिम अवस्था में होते हैं, छुआ-छूत का विचार उनमें उतना ही कठोर होता है। स्पर्श-दोष से अपनी विशेष शक्ति खो देने की और दूसरों के निकट से नाना अमंगल के पाने की आशंका इस प्रकार के विचार के मूल में होती है। वर्जन-शीलता (Exclusive-

ness) असंस्कृत आदिम अवस्था में एक मात्र धर्म होती है। इसी को प्रशान्त महासागर के द्वीपों की असभ्य जातियाँ 'मैना' (Mana) कहती हैं। आजकल सभी देशों के पण्डित इस 'मैना' शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार करने लगे हैं[१]। रायबहादुर श्री शरच्चन्द्र राय ने इस मैना के विषय में अच्छा विचार किया है। जिन्हें जिज्ञासा हो, वे उनकी पुस्तक देख सकते हैं।

"इन्साइक्लोपिडिया आफ रेलिजन ऐण्ड एथिक्स" में 'मैना' (Mana) शब्द की सूची देखने से नाना देशों में प्रचलित स्पर्शास्पर्श विचार का संधान मिलता है। अफ्रिका, फीजी, प्रशान्त महासागर के नाना द्वीप बोर्नियो आदि नाना स्थानों में यह विचार पाया जाता है। बोर्नियो में तो तीन श्रेणियाँ भी हैं। मेक्सिको में भी तीन जातियाँ हैं। वहाँ केवल स्पेनीय लोग उत्तम हैं, मिश्रित लोग मध्यम और आदिम जातियाँ अधम।

यद्यपि सेमेटिक लोगों का दावा है कि उनमें जातिभेद नहीं था, तथापि उनमें नाना भाँति का कौलीन्य विचार देखा जाता है। इसी से जान पड़ता है कि उनमें भी श्रेणी विभाग जरूर रहा होगा। अरब के दक्षिणी प्रदेशों में कारीगर लोग ही अन्त्यज थे। उन्हें गांव या नगर के बाहर बसना पड़ता है। फेरमैन साहब का कहना है कि इनसे भी अधिक अभागे अन्त्यज वहाँ हैं, जो निष्ठावान् मुसलमान होकर भी मस्जिद में प्रवेश नहीं कर सकते।

आर्य लोग प्रायः सभी देशों में इन बातों में जरा उदारचेता हैं अर्थात् वे अपने समाज में श्रेणी-विभाग कम ही मानते हैं। रोम में यद्यपि अभिजात और प्राकृत (अनभिजात) यह दो श्रेणियाँ थीं, तथापि उनका व्यवधान ऐसा नहीं था जो दुर्लंघ्य कहा जा सके। पराजित शत्रु अवश्य ही गुलाम हुआ करते थे। इंग्लैण्ड में ऐंग्लोसेक्सन युग में

---

[१] E. R. E. VIII, पृ० ३७५

भी यही व्यवस्था थी। ग्रीस और प्राचीन जर्मनी में भी अभिजात लोगों की एक विशेष श्रेणी थी।

आचार्य धल्ला का कथन है कि ईरान में भी चार वर्ण थे, यद्यपि एक वर्ण के लोग गुणकर्मानुसार दूसरे में जा सकते थे। फिर कुछ लोग बताते हैं कि जेंद-अवेस्ता में तीन श्रेणियों का उल्लेख है—(१) मृगयाकारी, (२) पशु-पालक और (३) कृषि-जीवी[1]। किन्तु यह बात अन्यान्य पारसीक आचार्य नहीं स्वीकार करते। वे कहते हैं कि पारसीकों (ईरानियों) में जातिभेद नहीं था। शायद भारतीय भाव से अनुप्राणित होकर ही धल्ला महाशय ने अपने सामान्य-सामान्य भेद को ही जाति भेद के रूप में कल्पना किया है। स्वदेश से निर्यातित होकर पारसी लोगों ने गुजरात के राणा यदु के निकट अपना परिचय दिया था। इस देश में आश्रय पाने के लिए इस देश के धर्म के साथ अपने देश के धर्म की जितनी भी समानता हो सकती है उतनी दिखाने की चेष्टा उन्होंने की है। यदु राणा के निकट दिये हुए परिचय के कई श्लोक ही इस बात के साक्षी हैं। उसमें भी जातिभेद की बात नहीं है। यदि उनमें चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था होती, तो ऐसे अवसर पर वर्णाश्रमवादी राजा के निकट उसे वे जरूर बताते। उसके वहाँ व्यवहार न करने का कोई कारण नहीं हो सकता।

(भारतवर्ष में जो जातिभेद प्रचलित है उसका स्वरूप और तरह का है। (भारतीयों के सिवा और कोई भी इसे अच्छी तरह ठीक ठीक नहीं समझ सकता। इस समय यह जातिभेद जन्मगत है। शास्त्रों में यद्यपि गुण-कर्म विभाग की बात सुनाई दे जाती है, परन्तु यह बात अब है नहीं। भारतवर्ष के बाहर भी अनेक आर्य जातियाँ नाना देशों में बसी हुई हैं, परन्तु कहीं भी इस प्रकार का जातिभेद उनमें नहीं पाया जाता। प्रश्न यह है कि एकमात्र भारतवर्षीय आर्यों में ही यह जातिभेद कहाँ से आ गया?

---

[1] Crooke N. W. P. I,XVI

यहाँ इसी विषय की यथासाध्य आलोचना करने का प्रयत्न किया जा रहा है। हम साधारणतः अपने प्राचीन शास्त्रों अर्थात् वेदों, पुराणों और स्मृतियों पर ही अपनी आलोचना को स्थित रखेंगे। देश-प्रचलित प्रथा और आचारों की चर्चा भी हमें बाध्य होकर करना ही पड़ेगा। ऐसी आलोचना के सभी निष्कर्ष परम और चरम सत्य नहीं भी हो सकते हैं। भूल-त्रुटि भी हो सकती है। फिर भी इस विषय में यदि किसी-किसी के विचार और वितर्क जागृत हों तो हमारा श्रम सार्थक ही समझा जायगा।

भारतीय जातिभेद के विषय में विशेषज्ञ लोगों ने पहले भी अनेक कार्य किये हैं, किन्तु हमारा प्रयत्न ठीक उसी ढंग का नहीं है। फिर भी जब-जब हम किसी ऐसे विचार-क्षेत्र में उपस्थित हो गये हैं, जिसके विषय में अन्य पंडितों ने कार्य किया है, तब-तब अपने पूर्ववर्ती पंडितों के मत से लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। ऐसे स्थलों पर उनका नामोल्लेख करता गया हूँ। इस प्रकार केतकर, विल्सन, राजेन्द्रलाल मित्र, रिजली, क्रूक आदि का सेंसस रिपोर्ट, कैम्पबेल, घुरे आदि का नामोल्लेख यथास्थान किया गया है। डा०, जी० एस० घुरे की 'कास्ट ऐण्ड रेस इन इण्डिया' नामक पुस्तक बहुत ही उपादेय है। इस विषय में रुचि रखने वाले लोग उसे देखने से उपकृत होंगे।

---

२. जातिभेद का परिचय

भारतवर्ष के जातिभेद की बात कहने के पहले शुरू में ही जाति शब्द की परिभाषा देनी चाहिए। इस देश में रहने वाले हम सभी समझते हैं कि जाति क्या चीज है, परन्तु भाषा में उसकी एक परिभाषा करना सहज नहीं है। यूरोपियन पंडितों ने नाना भाव से इस बात को समझाने का प्रयत्न करके हार मानी है। इस देश में जाति जन्मगत होती है। जाति के बाहर विवाह निषिद्ध है। आज तक मृत्यु के पश्चात् शव-संस्कार और जीवितावस्था में आहारादि स्वजाति में ही सीमाबद्ध थे; पर अब शहरों में रहना, विदेश-यात्रा, होटल, रेस्टोरॉ आदि के प्रचार तथा नई शिक्षा-दीक्षा के फल स्वरूप आहारादि सम्बन्धी आचार-विचार क्रमशः शिथिल होते जा रहे हैं।

भारतवर्ष में सबसे ऊंची जाति ब्राह्मण है। ब्राह्मणों में भी ऊंच-नीच के असंख्य भेद हैं। प्रदेशगत भेद भी गिनकर खतम नहीं किये जा सकते। इसीलिये यह कहना असम्भव है कि ब्राह्मणों की कौन श्रेणी सबसे ऊंची है। नाना प्रदेश की बहुत-सी ब्राह्मण श्रेणियां सर्वोच्चता का दावा करती हैं। हिन्दुओं की सबसे नीची जाति कौन है, यह भी कहना कठिन है। इस उभय कोटियों के मध्यवर्ती स्तरों का गिनना सहज नहीं है।

ब्राह्मणादि ऊंची जातियां जिन जातियों का छुआ जल पी लेती हैं, वे जल-चल अर्थात् अच्छी जातियां हैं। जिनका छुआ घृत-पक खाद्य और मिष्ठान्न ब्राह्मण लोग ग्रहण कर सकते हैं, वे और भी अच्छी जातियां हैं। साधारणतः ब्राह्मण लोग अपनी श्रेणी के बाहर के आदमी के हाथ का भात-दाल और रोटी आदि (कच्ची रसोई) नहीं खाते।

दक्षिण-भारत में स्पर्श-विचार और भी प्रबल है। वहाँ जिनके स्पर्श से ब्राह्मण लोग अपवित्र नहीं होते और जिनका जल ग्रहणीय होता है वे ही अच्छी जातियां हैं। जिनका छुआ जल ब्राह्मणी लोग ग्रहण कर सकती हैं वे और भी अच्छी जातियां हैं। उनके स्पर्श और जल से ब्राह्मण-विधवाओं को स्नानादि से पवित्र होने की जरूरत नहीं पड़ती, वे लोग इनसे भी अच्छी जाति के होते हैं।

नीच जाति का छुआ जल ग्रहण योग्य नहीं होता। जिनके छूने से मिट्टी के वर्तन भी अपवित्र हो जाते हैं, वे और भी नीच हैं। उनके भी नीचे वे हैं जिनके छूने से धातु के पात्र भी अपवित्र हो जाते हैं। इनके भी नीचे वे जातियाँ हैं, जो यदि मन्दिर के प्रांगण में प्रवेश करें तो मन्दिर अपवित्र हो जाता है। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनके किसी ग्राम या नगर में प्रवेश करने पर समूचा गाँव का गाँव अशुद्ध हो जाता है। इन बातों का विचार श्री श्रीधर केतकर जी ने अपनी पुस्तक[1] में बहुत अच्छी तरह किया है।

आज कल इस छुआछूत के विषय में नाना स्थानों में लोकमन हिल चुका है। जो लोग सौभाग्यवश ऊंची जाति में उत्पन्न हुए हैं वे प्रायः इतना ननु-नच विचार पसन्द नहीं करते, और जो लोग दुर्भाग्यवश तथा कथित नीची जातियों में जन्मे हैं, वे अब अपने को एकदम हीन और पतित मानने को तैयार नहीं हैं, किन्तु नीची जातियों में अपने से नीच जातियों को दबा रखने का प्रयास प्रायः ही दिखाई दे जाता है।

ऊंची जाति के लोगों में से अधिकांश अब भी वर्णाश्रम व्यवस्था को अच्छा समझते हैं। स्वामी दयानन्द का कहना है "भारतवर्ष में असंख्य जातिभेद के स्थान पर केवल चार वर्ण रहें। ये चार वर्ण भी

---

[1] S. Ketkar: The History of caste in India; P 24, 25

गुण-कर्म के द्वारा निश्चित हों, जन्म से नहीं। वेद के अधिकार से कोई भी वर्ण वंचित न हो।"

महात्मा गांधी अस्पृश्यता के तो विरोधी हैं, किन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोधी नहीं हैं। श्रीमती लक्ष्मी नरसू ने महात्मा जी का निम्नलिखित वाक्य[1] उद्धृत किया है—'वर्णाश्रम मनुष्य के स्वभाव में निहित है; हिन्दू-धर्म ने उसे ही वैज्ञानिक रूप में प्रतिष्ठित किया है। जन्म से वर्ण निर्णीत होता है, इच्छा करके कोई इसे बदल नहीं सकता।"

इस प्रकार देखा गया कि यह वर्णभेद जन्मगत है। ब्राह्मण से ब्राह्मण, क्षत्रिय से क्षत्रिय, वैश्य से वैश्य और शूद्र से शूद्र उत्पन्न होता है। अब इस भेद का मूल कहाँ है?

साधारणतः लोग ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१० म मंडल, ९० सूक्त) को ही इस वर्णभेद का मूल समझते हैं। वहाँ कहा गया है—

'उस प्रजापति के मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य थे, और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए[2]।' इसमें देखा जाता है कि जाति को लेकर ही मनुष्य की सृष्टि हुई।

ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द कम ही आया है। जहाँ आया है वहाँ भी ज्ञानी या पुरोहित के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। क्षत्रिय शब्द का उल्लेख भी बहुत ज्यादा नहीं है और वैश्य तथा शूद्र का तो एक मात्र उल्लेख पुरुष-सूक्त के इस मंत्र में ही है।

ऐतिहासिक पंडितों के मत से ऋग्वेद का दसवाँ मंडल अपेक्षाकृत अर्वाचीन या आधुनिक है। इसमें भी केवल चार वर्णों का ही उल्लेख है। इससे हमारे देश की असंख्य जातियों की मीमांसा कैसे हो सकती है? मुँह से हम चार वर्ण कहते रहें तो क्या होता है। मर्दुमशुमारी

[1] A Study of caste; P. 131

[2] ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

की रिपोर्ट में प्रायः चार हजार जातियों की चर्चा है। फिर उनके भीतर जो भेद-विभेद हैं, उनकी तो कोई गणना ही नहीं।

चार वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार का संशय प्राचीन काल में भी था। सब लोग इस मत को मानने में एक मत नहीं थे।

विष्णु पुराण के मत से गृत्समद के पुत्र शौनक ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्तित की[1]। इसी पुराण में अन्यत्र कहा गया है कि भार्ग से भार्गभूमि उत्पन्न हुए, उनसे चातुर्वर्ण्य प्रवर्तित हुआ[2]। फिर दक्ष प्रजापति ब्रह्मा के दाहिने अंगूष्ठ से उत्पन्न हुए[3]। महाभारत में आदि सृष्टि के प्रसग में जनमेजय से वैशम्पायन ने कहा है कि ब्रह्मा के छः मानस पुत्र हैं, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु। मरीचि के पुत्र हैं कश्यप। उन्हीं से सब प्रजाओं की सृष्टि हुई[4]।

ब्रह्मा के मानस पुत्रों की कथा सभी पुराणों में हैं। ब्राह्मण लोग इन्हीं की सन्तति हैं।

ब्रह्मा के वरुण याग सम्बन्धीय अग्नि से भृगु का जन्म है। इसके बाद उनकी सन्तति-धारा चली (आदि पर्व ५,७-८)।

---

[1] गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताभूत्।
(विष्णु० अंश ४,८,१)

[2] भार्गस्य भार्गभूमिः, अतश्चातुर्वर्ण्यप्रवृत्तिः
(वही, चतुर्थ अंश ८,६)

[3] ब्राह्मणश्च दक्षिणांगुष्ठजन्मादक्षप्रजापतिः।
(विष्णु ४,१,५)

[4] ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः।
मरीचिरत्र्यगिरसौ: पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः॥
(आदि पर्व ६५,१०,११)

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने गुण-कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है[1]। हरिवंश में भी कहा गया है कि गृत्समद के पुत्र शुनक हुए। शुनक से ही शौनक नाम से परिचित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बहुत से पुत्र उत्पन्न हुए[2]। इसी हरिवंश में एक और मत का भी उल्लेख है। अक्षर से ब्राह्मण, क्षर से क्षत्रिय, विकार से वैश्य और धूम-विकार से शूद्रगण उत्पन्न हुए[3]।

नाना पुराणों में सृष्टिकथा नाना भाव से वर्णन की गई है। यहाँ सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। तथापि दो एक और बातों का उल्लेख किया जा रहा है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में पहले क्षत्रिय सृष्टि की ही बात पायी जाती है। महाभारत, शान्तिपर्व में अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा है—देवदेव नारायण के वाक्य संयम के समय उनके मुख से पहले ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। अन्यान्य वर्ण ब्राह्मणों से उत्पन्न हुए[5]।

फिर यह भी पाया जाता है कि चूंकि सभी वर्ण ब्राह्मण से उत्पन्न हैं

[1]चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। (४,१३)

[2]पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥
(२९ अध्याय १५१९-२०)

[3]अक्षराद् ब्राह्मणाः सौम्याः क्षरात् क्षत्रियबान्धवाः।
वैश्या विकारतश्चैव शूद्रा धूमविकारतः।
(भविष्य पर्व २१०, ११८१६)

[4]ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव तदेकः सन्नव्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्। (१,४,११)

[5]वाक्यसंयमकाले हि तस्य वरप्रदस्य देवदेवस्य ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूताः। ब्राह्मणेभ्यश्च शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः। (शान्ति० ३४२,२१)

अतः वे सभी ब्राह्मणों की ही जाति के हैं[1]। यहाँ टीकाकार नीलकंठ ने कहा है कि चूंकि तीन वर्णों में ब्राह्मण ही यज्ञस्रष्टा है इसलिये उससे उत्पन्न सभी वर्ण ही यज्ञ-संयोग वशतः ऋजु अर्थात् साधु हैं[2]।

महर्षि जैमिनि का कहना है चतुर्मुख ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में पहले ब्राह्मणों का ही सृजन किया, फिर अन्य सभी वर्ण उन्हीं के वंश में पृथक् पृथक् उत्पन्न हुए[3]। इसीलिये महाभारत में कहा है कि पहले केवल एक ही वर्ण था। बाद में कर्म-क्रिया विशेष वश चार वर्ण हुए[4]। शान्तिपर्व के १८८ अध्याय से जान पड़ता है कि महर्षि भृगु का भी यही मत था। विष्णु पुराण के चतुर्थांश के कई अध्यायों में दिखाया गया है कि मनु के नाना पुत्रों से ही नाना जातियों की उत्पत्ति हुई थी।

विभिन्न प्रदेशों के पुराणों में जातिभेद के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न कहानियाँ पायी जाती हैं। मैसूर प्रदेश की एक पौराणिक कथा से जान पड़ता है कि ब्रह्मा के शाप से वैश्य वंश का समूल नाश हो गया था। बाद में वल्कल ऋषि ने कुश निर्मित सहस्र पुरुषों को जीवन दान देकर सहस्र गोत्र के वैश्यों को उत्पन्न किया[5]।

---

[1]तस्माद्वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णाः
संसृज्यन्ते तस्य विकार एव। (शान्ति० ६०,४७)

[2]यस्मात् त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणो यज्ञस्रष्टा तस्मात् सर्वेऽपि वर्णा ऋजवः साधव एव यज्ञसंयोगात्।

[3]संसर्ज ब्राह्मणानग्रे सृष्ट्यादौ स चतुर्मुखः
सर्वे वर्णाः पृथक् पश्चात् तेषां वंशेषु जज्ञिरे।
(पद्मपुराण, उत्कल खंड ३८,४४)

[4]एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद्युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविशेषेण चतुर्वर्णं प्रतिष्ठितम्॥

[5] Mysore Tribes and Castes. Vol VI, P. 4031।

इस प्रकार मनुष्य और जाति की सृष्टि के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रों में असंख्यक मत पाये जाते हैं।

भागवत में भी एक मत देखते हैं[1]। श्रीधर स्वामी के भाष्य के अनुसार उसका अर्थ यह होता है कि पहले सर्ववाङ्मय प्रणव ही एकमात्र वेद था। एकमात्र देवता नारायण थे और कोई नहीं, एकमात्र लौकिक अग्नि ही अग्नि और एकमात्र हंस ही एक वर्ण था। क्योंकि पुराण में कहा है कि प्रारम्भ में सत्ययुग में मनुष्य की एकमात्र जाति हंस थी[2]। उस सत्ययुग में पाप-पुण्य की सृष्टि नहीं हुई थी, वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं थी। इसीलिये उस समय वर्णसंकर भी नहीं था[3]।

---

[1]एक एव पुरा वेदः प्रणव सर्ववाङ्मयः।
देव नारायणोनान्य एकोग्निर्वर्ण एव च।

[2]आदौ कृतयुगे वर्णों नृणां हंस इति स्मृतम्।

[3]अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापयोः
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न संकरः।

३. ब्राह्मणादि वर्णों का परिचय

शान्तिपर्व में भरद्वाज के प्रश्नों के उत्तर में भृगु ने जो कुछ कहा है उससे ऋग्वेद की चातुर्वर्ण्य वाली बात मिलती नहीं। भृगु कहते हैं कि ब्राह्मणों का वर्ण (रंग) श्वेत है, क्षत्रियों का लोहित (लाल) वैश्यों का पीत और शूद्रों का असित या काला[1]।

इस पर भरद्वाज कहते हैं कि यदि वर्ण (रंग) से ही वर्णभेद समझा जाय तब तो सभी वर्णों में वर्णसंकर देखे जायेंगे। फिर हम सभी लोग काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, चिन्ता और श्रम से पराभूत होते हैं; इसलिये वर्णभेद होते कैसे हैं? स्वेद, मूत्र, पुरीष, श्लेश्मा, पित्त और शोणित सभी शरीरों में समान भाव से क्षरित हो रहे हैं; फिर वर्णभेद कैसे होता है? फिर अशेष प्रकार के स्थावर और जंगमों के वर्णों की विभिन्नता कैसे निश्चित होगी[2]।

[1]ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा। शांति, १८८,५

[2]चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकर।
कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधाश्रमः
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभिद्यते।
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितं।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभिद्यते॥
जंगमानामसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः। वही, १८८,६-६

इस पर भृगु ने युक्तियुक्त जवाब दिया। बोले—वर्णों की कोई विशेषता नहीं है। समस्त जगत् को ब्रह्मा ने पहले ब्राह्मणमय ही सृष्ट किया था। बाद में सभी कर्मानुसार नाना वर्ण को प्राप्त हुए। जो ब्राह्मण काम-भोग-प्रिय, तीक्ष्ण-स्वभाव, क्रोधन, प्रिय-साहस और स्वधर्म त्याग करके राजसिक लोहित वर्ण हुए वे क्षत्रिय हो गये। गोरक्षावृत्ति ग्रहण करके जो कृषिजीवी हुए वे स्वधर्म-त्यागी पीतवर्ण वाले ब्राह्मण वैश्य हुए। जो ब्राह्मण हिंसा-प्रिय, अनृत-प्रिय लोभी और सर्व-कर्मोपजीवी हो गये, वे शौच-परिभ्रष्ट कृष्णवर्ण ब्राह्मण शूद्र हुए। इन कर्मों से पृथक्-पृथक् ब्राह्मण लोग ही वर्णान्तर को प्राप्त हुए। इसीलिये उनके लिए यज्ञ-क्रिया और धर्म नित्य-विहित हैं, निषिद्ध नहीं। इन चारों वर्णों को वेद में अधिकार है। ब्रह्मा का यही पूर्व-विधान है। लोभ के कारण ही लोग अज्ञान को प्राप्त हैं[1]।

---

[1] न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥१०॥

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
व्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥११॥

गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥१२॥

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥१३॥

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ताः द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥१४॥

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गता ॥१५॥

(वही)

जाति के सम्बन्ध में महाभारत में यद्यपि इस प्रकार के मत पाये जाते हैं तथापि अन्यान्य अनेक स्थानों पर आजकल के रूढ़ मत ही अधिक हैं। फिर भी महाभारत में ऐसे उदार विचार कम नहीं हैं, जो आज के युक्ति प्रवण युग में भी आश्चर्यजनक हैं। धीरे-धीरे ये पुराने उदार विचार अनुदार और रूढ़ विचारों से ढक गए हैं, तथापि जो कुछ ऐसे भी विचार उसमें रह गये हैं उसी पर से हमारा विचार अग्रसर हो सकेगा।

शान्तिपर्व १८६ अध्याय में भगवान् भरद्वाज ने भृगु से पूछा कि हे द्विजोत्तम, ब्राह्मण कैसे होता है? क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कैसे होते हैं[1]? इस पर भृगु ने उत्तर दिया—

ब्राह्मण वही है जो यथाविधि संस्कृत, शुचि, वेदाध्ययनरत, षट-कर्मान्वित, आचारशील, विद्याशाली, गुरुप्रिय, नित्यव्रती और सत्यपरायण हो। जिसके सत्य, दान, अद्रोह (मैत्री) आनृशंस्य, लज्जा, क्षमा, और तप हो वही ब्राह्मण है (शांति० १८६-२-४)। इसके बाद क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में बताने के बाद भृगु कहते हैं कि जो नित्य सर्व प्रकार की वस्तु भक्षण करने में रत है, जो अशुचि है और सर्व-कर्म करता है, जो वेद को त्याग कर आचारहीन हो गया है, वही शूद्र है[2]।

इसके बाद ही महर्षि कहते हैं कि ऊपर बताये हुए ब्राह्मण के लक्षण यदि शूद्र (जन्मगत) में हों तो वह शूद्र नहीं होता और यदि ये लक्षण ब्राह्मण (जन्मगत) में न हों तो वह ब्राह्मण नहीं होता[3]।

---

[1]ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम।
वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद्ब्रूहि वदतां वर ॥—शान्ति० १८६, १

[2]सर्व भक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतिः।—वही, ७

[3]शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजेचैतन्न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो नच ॥८॥

यह श्लोक महाभारत में अन्यत्र (वनपर्व १८०-२५) भी है। वहाँ सर्प रूपी नहुष के प्रश्न पर युधिष्ठिर ने यह बात कही है। इन्होंने और भी कहा है कि सर्वदा शुचिता, सदाचार, सर्वभूतमैत्री, यही ब्राह्मण के लक्षण हैं[1]।

इसी प्रकार 'जो क्रोध, मोह त्यागी होते हैं उन्हें देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं, जो सत्यवादी गुरु के संतोष विधायक, हिंसित होकर भी अहिंसा-परायण होते हैं, उन्हें देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जो जितेन्द्रिय हैं, धर्मपरायण हैं, स्वाध्याय-निरत पवित्र हैं, जिनके काम और क्रोध पराभूत हो गये हैं; उन्हें ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जिस धर्मज्ञ-मनीषी के लिए सारा लोक अपने ही समान है, जो सर्वधर्म में रत हैं उन्हें देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। (वन पर्व, अध्याय २०५, ३३-३६) इसी तरह और भी कई श्लोकों तक युधिष्ठिर ने ब्राह्मण के लक्षण बताये हैं।

उद्योगपर्व में सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र से कहा है कि 'हे क्षत्रिय केवल जल्पना मात्र से (वेद शास्त्रादि के अध्ययन मात्र से) किसी को ब्राह्मण मत समझना, जो सत्य से कभी स्खलित नहीं होता वही ब्राह्मण है (उद्यो० ४३ ४६)। इसी तरह वशिष्ठ कहते हैं क्षमा ही ब्राह्मण की शक्ति है (आदि १७५,२६)। आदि पर्व में कहा गया है भूतमात्र के प्रति मैत्री ही ब्राह्मण का धर्म है (२१७,५) यही बातें महाभारत में नाना स्थानों में नाना भाव से कही गई हैं[2] अन्यत्र महाभारत में कहा है कि जिसके अकेले रहते भी आकाश पूर्ण की भांति ज्ञात होता है और

[1]सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपोघृणा।
दृश्यन्ते यत्र राजेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः। (वन० १८०,२१)
शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वतः।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम्॥

[2]दे० अनुशासन २७, १२, शान्ति ६०,८-६ आदि ११,१६

शून्यस्थान जनाकीर्ण सा लगता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं[1]। सम्मानित होकर भी जो हृष्ट नहीं होता, अपमानित होकर भी रुष्ट नहीं होता, जो सर्व भूत को अभय देने वाला है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं[2]। जिसका जीवन धर्म के लिए है, धर्म हरि के लिए है, और दिन-रात पुण्य के लिए हैं, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं[3]। जो निरामिष है, जो अनारम्भ हैं, जो स्तुति और नमस्कार से हीन है, जो सर्व बन्धन से विमुक्त है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं[4]। युधिष्ठिर ने कहा है कि निस्सन्देह चरित्र ही ब्राह्मणत्व का कारण है[5]।

महाभारत में हो पार्वती से शिव इसी श्लोक की भाषा में कहते हैं द्विजत्वका कारण केवल चरित्र ही है (अनु० १४६।५० ; चरित्र से सभी ब्राह्मण हो सकते हैं; शूद्र भी यदि सच्चरित्र हो, तो ब्राह्मणत्व प्राप्त करता है[6]। जो आर्जव या सरलतापूर्वक आचरण करता है, उसी को

[1]येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
शान्ति० २४४,११

[2]न क्रुध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ वही, १४

[3]जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ २३

[4]निरामिषमनारंभं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
निर्मुक्तं बंधनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ २४

[5]कारणं हि द्विजेत्वे च वृत्तमेव न संशयः।
वन० ३१२,१०८

[6]सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तुशूद्रोऽपि ब्राह्मणत्व नियच्छति॥ अनु० १४३,५१

ब्राह्मणत्व प्राप्त होता[1] है। सदाचार और कर्म से ही शूद्र ब्राह्मण होता है और वैश्य क्षत्रिय होता है[2]। सत्कर्म के फल से आगम सम्पन्न शूद्र संस्कृत होकर द्विजत्व प्राप्त करता है[3]।

ब्राह्मण भी असत्-चरित्र और सर्वसंकर भोजन करने से जातिच्युत होकर शूद्र हो जाता है[4]। पवित्र कर्म से शुद्धात्मा और विजितेन्द्रिय शूद्र भी द्विजवत् सेवनीय होता है, यह बात स्वयं ब्रह्मा ने कही है[5]। धर्म की सहायता से शूद्र भी द्विज होता है और धर्म से विमुख होकर ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है, यही गुह्य या गोपनीय रहस्य शिव ने पार्वती से कहा है[6]।

शान्तिपर्व ७६ वें अध्याय में (४-८) उन कारणों की चर्चा है, जिन के कारण ब्राह्मण पतित होता है। अनुशासन पर्व (१३६,-२०) में यही बात और तरह से कही गयी है। इनमें से कई श्लोक आपस्तंब संहिता के नवें अध्याय में दिये हुए हैं। इसमें शूद्र की नौकरी को श्वानवृत्ति कहा है; अर्थात् ब्राह्मण शूद्र की नौकरी करके कुत्ते के समान हो जाता है।

---

[1] आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते। वन० २११,१२

[2] एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्। अनु० १४४,२६

[3] एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसंपन्नो द्विजो भवति संस्कृतः। वही ४६

[4] ब्राह्मणोवाऽप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः।
ब्राह्मण्यं स समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः। वही ४७

[5] कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत्, स्वयं। वही ४८

[6] ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद्यथा शूद्रत्वमाप्नुते। वही ५६

उसे भी कुत्ते की तरह जमीन पर अन्न देना विहित है, क्योंकि जैसा कुत्ता है वैसा ही वह है[1]। (६,३५)

बृहद्धर्म पुराण में लिखा है कि चारों वर्ण स्वधर्मपालन के द्वारा विप्रता को प्राप्त कर सकते हैं और आगे चलकर यह भी कहा है कि स्वधर्म पालन करके शूद्र वैश्य हो सकता है, वैश्य क्षत्रिय, और क्षत्रिय ब्राह्मण (उत्तर खण्ड १,१४-१६)।

शास्त्रों में लिखा है कि नौकरी करनेवाले, यवनसेवी और सूदखोर ब्राह्मण शूद्र से भी अधम हैं। परन्तु आजकल यह मत नहीं माने जाते क्योंकि सनातन धर्म के अधिकांश आधुनिक संरक्षकों में इनमें से कई-कई गुण विद्यमान हैं।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने जो गुणकर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्य का निर्देश किया था (४,१३) वह अगर प्रचलित होता, तो भारतीय जातिव्यवस्था से हमारा शायद उपकार ही होता। उस हालत में एक गति और स्पन्दन दिखाई पड़ता। मनु ने भी कहा है कि अवसर विशेष पर ब्राह्मण शूद्र हो जाता है और शूद्र ब्राह्मण हो जाता है (१०,६५)। परन्तु ये व्यवस्थाएं और विधियाँ इस देश में धीरे-धीरे अचल हो उठीं। संस्कृत काव्य, पुराण, नाटक आदि में हीनवृत्ति ब्राह्मण और उच्चवृत्ति शूद्र की कम चर्चा नहीं है। चरित्र और शील में कभी-कभी शूद्रों को ब्राह्मणों से भी अधिक उन्नत पाया गया है, परन्तु गुणकर्म के अनुसार उच्च-नीच मर्यादा न होने के कारण धीरे-धीरे सब का नैतिक आदर्श उतार पर आने लगा। जो जहाँ पैदा हुआ वहाँ हमेशा के लिए स्थिर हो रहा, इसकी अपेक्षा अधिक तामसिकता और क्या हो सकती है!

---

[1] ब्राह्मणस्य सदाकालं शूद्रप्रेषणकारिणः।
भूमावन्नं प्रदातव्यं यथा हि वा तथैव सः। ६।३५

४. जातियाँ असंख्य हैं

शास्त्र के अनुसार 'जाति' से चार वर्णों का ज्ञान होता है। चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यद्यपि अब भी हम लोग चातुर्वर्ण्य शब्द का व्यवहार करते जा रहे हैं, पर व्यवहार में जातियाँ असंख्य हो गई हैं। भारतवर्ष की मनुष्यगणना रिपोर्ट से मालूम होता है कि यहाँ की जातियों की संख्या तीन हजार से भी ऊपर हैं। इनमें के उपविभागों को गिना जाय तो संख्या और भी न जाने कहाँ तक बढ़ानी पड़ेगी। गौण विभागों को छोड़ दिया जाय तो ब्राह्मणों के मुख्य विभाग ही आठ सौ से ऊपर हैं। इनमें परस्पर विवाहादि नहीं हो सकते[१]!

ब्लूमफील्ड का कहना है कि ब्राह्मणों में ही दो हजार भेद हैं[२] एक सारस्वत ब्राह्मणों में ही ४६९ शाखाएं हैं, क्षत्रियों की ५९० शाखाएं हैं और वैश्यों और शूद्रों की शाखाएं ६०० को भी पार कर जाती हैं।[3] भारत के सभी प्रदेशों की यही दशा है। गुजरात में मैंने दस-दस बारह-बारह घरों के पृथक-पृथक् ब्राह्मण समाज देखे हैं। मोता ग्राम में मोता ब्राह्मणों की एक ऐसी ही श्रेणी है। अठारहवीं शताब्दी में एक सूरत शहर में ही बनियों के ९५ विभाग थे[४]।

मनु ने लिखा जरूर है कि वर्ण चार ही हैं, पाचवाँ कोई वर्ण नहीं (१०।४) किन्तु उनके समय में ही बहुतेरी जातियाँ हो चुकी थीं। उनकी बात मनु को कहनी ही पड़ी है। अब प्रश्न है कि वर्ण तो चार ही हैं फिर

[१] S. Ketkar History of Caste. P. 5

[२] Religion of the Vedas, P 6.

[3] Hinduism, Ancient and modern, Lala Baijnath, Merat, 1869, P. 9

[४] A new account of the East Indies, Hamilton Vol. I, 1740, P. 151

इतनी जातियाँ कैसे हो गईं ? मनु ने इसके लिए चार वर्णों के अनुलोम प्रतिलोम विवाह को ही जातियों की अधिकता का कारण बताया है।

मनुस्मृति के दसवें अध्याय (८.३१) में मनु महाराज ने ५० जातियों का नाम गिना कर कहा है (१०।४०) कि इनके सिवा और भी बहुत सी जातियाँ हैं। चार श्लोक और पढ़ने के बाद मनु की गिनाई हुई जातियों की संख्या ६२ हो जाती है। पर यही 'सब कुछ' नहीं है, आगे 'इत्यादि' भी जोड़ा गया है। इनमें बहुत सी मानव श्रेणियाँ ऐसी हैं, जिन्हें आज कल के समाज शास्त्री 'Ethnic Group' कहते हैं। ये वह चीज हैं, जिन्हें Race और Tribe कहते हैं; जैसे मागध, वैदेह, आभीर, आवन्त्य, झल्ल, लिच्छवि, खस, द्रविड़, अन्ध्र आदि श्रेणियाँ इनके सिवा क्रियालोप अर्थात् व्रात्यत्व वश, पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़ कम्बोज, यवन, शक, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खस आदि जातियों की उत्पत्ति है। यह सहज ही समझ में आ जाता है कि इनमें की अधिकांश जातियाँ आर्यों के संस्पर्श में आई हुई नाना जातीय मानव-श्रेणियाँ हैं।

उन दिनों की अनेक मानव-श्रेणी या Ethnic Group नाना कारणों से भारतीय जातियों में अन्तर्भुक्त हो गई हैं। उनके नामों में अब भी प्राचीनता की झलक रह गई है। यहीं नहीं, ऐसा जान पड़ता है कि आर्यधर्माश्रित जिस आर्येतर वर्ण को शूद्र कहा गया है वे भी पहले भारतवर्ष की एक मानव-श्रेणी या Ethnic Group थे। कलकत्ते के छपे हुए महाभारत के नवें अध्याय में बहुत से नदी और जनपदों के नाम हैं। उस जगह आभीरादि के पश्चात् भीर-दरद्-काश्मीरादि के साथ 'शूद्र' का भी उल्लेख है—शूद्रभीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह (भीष्म ९।६७) द्रोणपर्व में शिवियों और शूरसेनों के साथ शूद्रों का भी उल्लेख है—शिवयः शूरसेनाश्च शूद्राश्च मलयैः सह (६,६)। इसी तरह पुराणों के अनेक स्थानों पर आभीर आदि के साथ शूद्रों का भी उल्लेख पाया जाता है। ग्रीकों के वर्णित Oxydrace शायद ये ही हैं। खूब संभव है बाद में चलकर समधर्मता वश

सभी आर्येतरों का नाम इन्हीं के नाम पर कर दिया गया हो।

प्रत्येक युग में अनेक पुरातन जातियों के लुप्त होने और नई जातियों के आविर्भूत होने की बात देखी जाती है। शायद इसीलिये वेद में उल्लिखित बहुत सी जातियाँ आज स्मरण पथ से हट गई हैं। स्मृतियों में भी जिनका उल्लेख है, ऐसी बहुत-सी जातियों का अब पता नहीं लगता। यह कहना कठिन है कि वेद में उल्लिखित ये सब जातियाँ अब क्या हो गईं। युग बदलने के साथ नामों के भी बदलने की संभावना है। फिर भी चातुर्वर्ण्य का चलता नाम देकर सब युगों की एक ही जाति सब समय नहीं समझी जा सकती।

ऐसी बहुत जातियाँ हैं, जिनका नाम स्मृति में तो है पर वेदों में नहीं। मागध, वैदेह आदि विभिन्न प्रदेशों के अधिवासी हैं। चाण्डाल, असल में एक जाति नहीं है। आवृत, आभीर, वाटधान, पुक्कस, शैव्य, झल्ल, मल्ल, लिच्छिवि, नट, करण, खस, द्रविड़, सुधन्वाचार्य, कारुण, विजन्म, मैत्र, सात्वत, सौरन्ध्रि मार्गव, कारावर, मेद, पाण्डु-सोपाक, अहिण्डिक, सोपाक अत्यवसायी, औड्र, यवन, शक, पह्लव, चीन, दरद, चुञ्चु, मद्गु, बन्दि इत्यादि जातियों के नाम वेदों में नहीं हैं। कम्बोज नामक एक ज्ञानी की बात (यास्क २।२) में तो है, पर इस नाम की किसी जाति का उल्लेख नहीं है। 'सूत' वेद में कोई जाति नहीं है। ये लोग नाना भाव से राजाओं की सहायता भर किया करते थे। बृहदारण्यक का 'उग्र' किसी जाति विशेष का नाम नहीं है। ये लोग बहुत कुछ शासन के सहायक (आजकल की पुलिस के साथ तुलनीय) थे।

वेद और स्मृति में यद्यपि बहुतेरी जातियों का उल्लेख है, किन्तु आधुनिक जातियों की तुलना में वे कुछ भी नहीं हैं। साढ़े तीन हजार वर्तमान जातियों के स्थान में सौ पचास जातियों के नाम पाये गये ही तो क्या हुआ? वेद और स्मृति में जिनके नाम पाये जाते हैं, ऐसी बहुत-सी जातियों का आज कोई पता नहीं चलता और ऐसी बहुत-सी प्रसिद्ध जातियाँ हैं, जिनका प्राचीन शास्त्रों में कोई उल्लेख नहीं है।

बंगाल के हाड़ी, डोम, बागदी, बाउरी, कावरा आदि बहुत-सी प्रसिद्ध जातियों के नाम वेद और स्मृतियों में नहीं हैं। उड़ीसा की पाण, कड़ा आदि जातियों के नाम भी नहीं पाये जाते। बिहार और उत्तर प्रदेश की पासी, दुसाध, मुसहर, कहार, खटिक, तुरहा, कुर्मी आदि जातियों के तथा दक्षिणात्य की थिया, चेरुमा, पारिया आदि जातियों की भी वेदों और स्मृतियों में चर्चा नहीं है। नाना प्रदेश की मनुष्य-गणना से ऐसी बहुत सी जातियों के नाम संग्रह किये जा सकते हैं, जिनकी चर्चा वेदों और स्मृतियों में नहीं है।

आजकल खोज करके देखने से जान पड़ेगा कि एक ही जाति में अनेक जातियाँ आ गई हैं। उदाहरण के लिए बंगाल की तांती जाति की बात ली जा सकती है। बंगाल में, कपास की खेती बुनाई और धुनाई का व्यवसाय बहुत पुराना है। इसीलिये यहाँ तांतियों की संख्या बहुत है। इनमें धोबा; सकली और सराक आदि शाखाएं हैं[1]। खूब संभव है किसी जमाने में ये जातियाँ बुनाई से जीविका चलाने लगी थीं। इसीलिये इनकी गिनती भी तांतियों में होने लगी है।

पुराणकार लोग इस बात को बहुत कुछ समझ सके थे। इसीलिये ब्रह्मवैवर्त पुराण में ऐसी दो-एक जातियों का उल्लेख है, जिनकी चर्चा किसी पूर्ववर्ती श्रुति-स्मृति में नहीं है। हाड़ी, डोम (हड्डिडोमौ) की बात इस पुराण में (१०।१४२) है और बागदी की भी चर्चा है (१०।११८) जुलाहे (जोला) और सराक के नाम भी हैं। यहाँ भी जातियों की उत्पत्ति के विषय में पुराणकारों ने मनु आदि स्मृतिकारों का ही अनुसरण किया है, जिसका फल यह हुआ है—म्लेच्छ से कुविन्द कन्या के संयोग से जोला (जुलाहा) जाति हुई और जुलाहे से कुविन्द की कन्या के संयोग से शराक की उत्पत्ति हुई (१०।१२१)। कुविन्द तांती ही हैं। इनमें जो मुसलमान हो गये हैं वे जुलाहे कहलाते हैं। आधुनिक अनुसंधानों से

[1] E. R. E. III, P. 233

जाना गया है कि शराक जैन श्रावकों के अवशेष हैं। इसीलिये इस प्रकार उत्पत्ति बताने से काम नहीं चल सकता यह स्पष्ट ही है। तथापि ब्रह्मवैवर्त पुराण के इस अध्याय में कोच, जोगी, राजवंशी, कापाली, माली, लुहार, (कर्मकार), शंखारी, कुम्हार, बढ़ई, सुनार, पटुआ (चित्रकार), राजमिस्त्री, तेली, लेट, माल्ल, मल्ल, भड़, कोल, कलन्दर, कलार (शौण्डिक), आगुरि, गणक, अग्रदानी, वेदे (संपेरा), मालवैद्य सूत, भांट आदि अनेक जातियों की उत्पत्ति इसी ढंग पर बतायी गई है। यद्यपि आज के युग में ऐसी बातें इनमें से कोई जाति मानना नहीं चाहती। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में ही (१०३।१०७) गंगापुत्रों की उत्पत्ति लेट और तीवर-कन्या से बताई गई है। तीवर अन्त्यज हैं और लेट उन्हीं से वर्ण-संकर। इन अन्त्यजों से गंगापुत्रों की उत्पत्ति हैं। अथच ये गङ्गापुत्र काशी के पण्डा हैं और भारतवर्ष के तीर्थों के गुरु हैं! गङ्गापुत्रों के साथ अन्य ब्राह्मणों के सामाजिक व्यवहार नहीं है। गयावाल पण्डों के साथ भी अन्य ब्राह्मणों के ऐसे व्यवहार नहीं चलते, यहाँ यह भी कहना उचित है कि मल्लाहों में भी गङ्गापुत्र हैं। मर्दुमसुमारी की रिपोर्ट में बताया गया है कि गयावाल लोग अन्य ब्राह्मणों द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। आगे इन बातों की विस्तृत चर्चा की गई है।

जान पड़ता है भारतवर्ष की नाना जातियाँ नाना समय में यहाँ पर बाहर से आई हुई हैं या यहीं पर रहने वाली मानव-मण्डलियाँ (Ethnic group) हैं। ऐसी कितनी मण्डलियाँ समय-समय पर आकर पूर्ववर्ती जातियों को हटाकर बसी हैं, यह गिन के नहीं बताया जा सकता। नदी का डेल्टा जैसे मिट्टी के तह एक के ऊपर दूसरे जमा होने से बनता रहता है, उसी प्रकार भारत में मानव-समाज जमते रहे हैं। इस देशवालों ने यूरोपियनों की भाँति एक दूसरे को उखाड़ कर नष्ट नहीं कर दिया। अपना-अपना धर्म और संस्कृति लेकर ये सभी चिरकाल से एक दूसरे के बगल में बास कर रहे हैं। इससे भारतवर्ष में बहुत से मतों का और जातियों का उद्भव हुआ है और भारतीय समाज वैचित्र्य से भर गया है।

५. आदिम युग में जाति-व्यवस्था का लचीलापन

प्राचीन युग में जाति-व्यवस्था के प्रचलित होने पर भी उच्च वर्ण के पुरुष का निम्नतर वर्ण की स्त्री के साथ विवाह सदोष नहीं माना जाता था। इसे ही अनुलोम विवाह कहते थे। प्रतिलोम विवाह जरूर निन्दनीय था। निम्नतर वर्ण का पुरुष यदि उच्चतर वर्ण की कन्या से विवाह करे, तो उसे प्रतिलोम विवाह कहते थे। इससे कुलीनता नष्ट होती है। थोड़ी-बहुत सभी देशों में यह मनोवृत्ति पायी जाती है। कहने का मतलब यहाँ इतना ही है कि जाति-व्यवस्था के प्रारम्भ के साथ ही साथ आज जैसी कड़ाई नहीं शुरू हो गई थी।

उन दिनों वंश-शुद्धि के अभाव में भी ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के अनेक प्रमाण संग्रह किये जा सकते हैं। पंचविंश ब्राह्मण (१४।१।१७) दीर्घतमा ऋषि की माता का नाम उशिज कहा हुआ है। ये उशिज बृहद्देवता के मत से शूद्र दासी थीं। यहाँ उशिज को कक्षीवान् आदि ऋषियों की माता भी कहा है। दीर्घतमा ने ही इस उशिज के गर्भ से इन सब ऋषियों को जन्म दिया था (४।२४-२५)। कण्ववंशीय वत्स को भी दासीपुत्र कहा गया है (१४।६।६)। अग्नि-परीक्षा देकर वत्स ने अपना दावा प्रतिष्ठित कराया था।

इलूष एक शूद्र दासी थीं। उनके पुत्र ऐलूष-कवष सरस्वती नदी के तीर पर सोमयाग में दीक्षित हुए थे। अन्य ऋषियों ने उन्हें देखकर कहा कि यह "कितव अब्राह्मण दासीपुत्र किस प्रकार हमारे बीच सोमयाग में दीक्षित हुआ ?" (ऐत० ब्रा, २।८) यह कह कर उन्होंने ऐलूष कवष को सरस्वती नदी से दूर जल-हीन देश में खदेड़ दिया। उन्होंने वहाँ 'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इस मंत्र का साक्षात्कार किया और सरस्वती

को अपने पास ले गये। निरुपाय होकर ऋषियों को उन्हें स्वीकार करना पड़ा। ऋषि के पूज्य आसन पर दासीपुत्र कवष प्रतिष्ठित हुए।

जावाला के पुत्र सत्यकाम की कथा तो प्रसिद्ध ही है। सत्यकाम ब्रह्मविद्या सीखने के लिये गुरु के पास गये। गुरु गौतम हारीतद्रुमत ने गोत्र पूछा। सत्यकाम ने माता से पूछा। माता ने कहा—"बेटा, कैसे बताऊं कि तेरा गोत्र क्या है? यौवन में बहुतों की परिचर्या करती हुई मैंने तुम्हें पाया है। सो मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है? मेरा नाम जावाला है, तेरा नाम सत्यकाम है। इसीलिये तू अपना नाम सत्यकाम जावाल कह देना।" (छांदोग्य ४।४।२)। यह बात सत्यकाम ने गुरु से ज्यों की त्यों कह दी। ऋषि गौतम ने यह सब सुनकर कहा "सच्चे ब्राह्मण के सिवा और कोई ऐसी सच्ची बातन हीं कह सकता। जाओ सौम्य, समिध लाओ। मैं तुम्हें उपनीत करूंगा, इसलिये कि तुम सत्य से भ्रष्ट नहीं हुए[1]।"

उपनिषद् में शुरू से अन्त तक एक ऐसी ही लचीली समाज-व्यवस्था का परिचय मिलता है। वहाँ ब्रह्मज्ञान के बड़े-बड़े उपदेष्टा क्षत्रिय हैं। अजातशत्रु, जनक अश्वपति कैकेय, प्रवाहण, जैवलि, प्रभृति क्षत्रियगण बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता हो गये हैं। ब्राह्मण ऋषि लोग भी उनके निकट ब्रह्मविद्या सीखने जाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् (२।१०।१) में गर्गवंशीय बालाकि की कथा है, ये वाग्मी और विद्याभिमानी थे। काशि-राज अजातशत्रु से उन्होंने कहा था कि मैं तुम्हें ब्रह्मविद्या सिखाऊंगा, पर अन्त में उन्हें इस विद्या में राजा की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी थी। यह आख्यान कौशीतकी उपनिषद् में भी है (४।१)।

प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय,

---

[1] तं होवाचनैतद्ब्राह्मणोविवक्तुमर्हति, समिधं सौम्याहरोपमत्वा नेष्ये नसत्यादगा इति।

छांदोग्य ४।४।५

जन शार्कराक्ष्य, बुडिल आश्वतराश्वि ये पांच महाशालापति महाक्षत्रिय गण आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए उद्दालक आरुणि के पास गये। उद्दालक ने उन्हें राजा अश्वपति कैकेय के पास भेजा। सबने राजा के पास से ब्रह्मविद्या प्राप्त किया (छान्दोग्य ५।११)।

विदेहपति राजर्षि जनक ऐसे ब्रह्मवेत्ता थे कि बड़े-बड़े ब्राह्मण आचार्य उन्हें सिर नवाते थे। इन्होंने एक बहुदक्षिण यज्ञ में ब्राह्मणों के साथ ब्रह्मविद्या का विचार किया था (बृहदारण्यक ३।१।१) इनका याज्ञवल्क्य के साथ भी एकबार ब्रह्मविद्या का विचार हुआ था (छांदोग्य० ४।१।१, ४।२।१) और बुडिल आश्वतराश्वि को भी इन्होंने इस विद्या का उपदेश दिया था (छां० ५।१४।८)। इसी तरह बृहदारण्यक (६।२।१) प्रवाहण जैवलि नामक ब्रह्मवादी राजा के साथ आरुणेय श्वेतकेतु के शास्त्र-विचार की बात पायी जाती है; और छान्दोग्य (१।८।१) में शिलक शालावत्य और चैकितायन दाल्भ्य के साथ प्रवाहण जैवलि के ब्रह्मविद्या-विचार की चर्चा है।

क्षत्रिय लोग केवल ब्रह्मवादी ही होते हों सो बात नहीं है, वे यज्ञ के अनुष्ठान-परिचालक भी होते थे। ऋग्वेद में (१०।९८) कहा गया है कि एक बार जब बारह वर्ष अकाल पड़ा था तो राजा शान्तनु ने वृष्टि के लिए यज्ञ किया था। इस यज्ञ के पुरोहित राजा ऋष्टिसेन के पुत्र देवापि थे। बृहद्देवता के मत से (७।१५५) देवापि शान्तनु के अपने भाई ही थे। निरुक्त का भी (२।१०) यही मत है।

भृगुवंशीय लोग रथ भी बनाया करते थे; यह ऋग्वेद से (१०।३९।-१४) मालूम होता है। इसी वेद में (९-११२-३) ऋषि पुत्र आंगिरस कहते हुए पाये जाते हैं कि मैं स्तव-रचना करता हूँ, पिता भिषक् (वैद्य) हैं और माता पिसनहरी (शिला-प्रक्षणी) हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में श्यापर्ण शायकायन एक विख्यात पुरोहित हैं। यज्ञवेदी की रचना में उनकी दक्षता सर्व जनविदित है। ये ही एक जगह कहते हैं कि उनकी सन्तानें गुणानुसार क्षत्रिय वैश्य या शूद्र कुछ भी हो सकती हैं (४।१।१०)।

काठक संहिता (१६।१०,२७।४) और शतपथ ब्राह्मण (१२।८।३।१६) में जो 'ब्रह्मपुरोहित' शब्द आया है उस पर से किसी-किसी ने अनुमान किया है कि उन दिनों ब्राह्मणों के सिवा और जाति के लोग भी पुरोहित होते थे[१]।

राजा विश्वामित्र ने जो अपनी तपस्या के बल से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, यह कथा काफी प्रसिद्ध है। क्षत्रिय बल जब ब्रह्म बल के निकट पराजित हुआ, तब उन्होंने "धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलं (आदिपर्व १७२।४५) कहा था। इसके बाद उन्होंने कठोर तप से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया (वही ४८) महाभारत में अन्यत्र भी कहा है कि विश्वामित्र क्षत्रभाव से ब्राह्मण भाव को प्राप्त हुए थे (उद्योग १०६।१८)। शल्यपर्व में भी (४०।२६) विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व लाभ करने पर देवताओं की भाँति समस्त पृथ्वी घूमने की कथा है। और यह भी कहा है कि क्षत्रिय होकर भी ब्रह्मवंश के कारक हुए[२]। इसी पर्व में (१८।१६—१७) कहा गया है कि विश्वामित्र ने शिव की तपस्या की थी और उन्हीं के प्रसाद से ब्राह्मणत्व पाया था। इस प्रसंग में शास्त्रों में विश्वामित्र और वशिष्ठ के विवाद का भूरिशः उल्लेख है। प्राचीन काल में बहुत-से अब्राह्मणों ने और क्षत्रियों ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। परन्तु इतना विवाद कहीं नहीं सुना गया। फिर प्रश्न होता है कि क्या कारण है कि वशिष्ठ और विश्वामित्र का विवाद इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया ?

मैकडानल और कीथ ने दिखाया है[३] कि वसिष्ठ (या वशिष्ठ) और विश्वामित्र अनेक हो गये हैं। विश्वामित्र एक समय सुदास के पुरोहित थे

---

[१] G. S. Ghurye. P. 44.

[२] ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वमित्रो महातपाः
क्षत्रियः सोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः—शल्य० ४।४८

[३] Vedic Index, Vol. II, PP 274-277 और PP 310-315

(ऋग्० ३।३३।५)। एक बार उन्हें इस पद से हटा दिया गया और वे राजा के शत्रुओं से मिल गये। वसिष्ठ के पुत्र शक्ति के साथ भी विश्वामित्र के कलह का आभास पाया जाता है (ऋग्० ३।५३।१५-१६;२१-२४) 'सद्गुरुशिष्य' ने विषय को और स्पष्ट करके लिखा है। इससे जान पड़ता है कि वशिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़े का आरम्भ पौरोहित्य आदि के स्वार्थ के लिए ही हुआ था। Vedic Index में इस सम्बन्ध की और भी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें कौतूहल हो वे वहीं देख सकते हैं।

असल में अगर जन्म से ब्राह्मणत्व का विचार किया जाय तो पता चलता है कि वसिष्ठ स्वर्ग की अप्सरा उर्वसी की सन्तान हैं। मित्रावरुण के औरस से उनका जन्म है[1]। वशिष्ठ के जन्म में कुछ गोलमाल था, इसीलिये ऋग्वेद में कहीं उन्हें उर्वसीपुत्र और तृत्सु-वंशोत्पन्न कहा है (ऋग्० ७।८३।८)। कई जगह इन्हें ब्रह्मा का मानसपुत्र भी कहा गया है। (आदिपर्व १७४।५) मनु संहिता (१।७५) वायुपुराण (९।६८-६९) और मत्स्यपुराण (१७३ अध्याय) में भी यह कथा है। वायुपुराण (६५।४६) में उनका अग्नि से जन्म होना भी कहा गया है। मत्स्यपुराण से भी इस कथा का समर्थन होता है।

पुराणकारकों ने जो वशिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़ों की कथा दी है, उससे भी उनके व्यक्तिगत स्वार्थ की बात पायी जाती है। ब्रह्मपुराण से इस विषय पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। मांधाता के वंश में विद्यावान् और प्रभावशाली त्रय्यारुणिका जन्म हुआ था, महाबली सत्यव्रत उन्हीं के पुत्र थे। (७।९७) त्रय्यारुणि में कुछ चरित्रगत दोष था (७।९८-९९) इसीलिये पिता ने उन्हें परित्याग किया (७।१००)। पुत्र ने कहा —'मैं कहाँ जाऊं?' पिता ने कहा—'वन में जाकर चांडालों

[1] उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
(ऋग्० ७।३३।११)

के साथ वास करो (७,१०१)।' त्र्य्यारुणि ने इसीलिये वनवास व्रत ग्रहण किया। भगवान् वशिष्ठ ने सब देखा, पर बोले कुछ नहीं। राज्य अराजक हुआ, वसिष्ठ ही राज्य-रक्षक हुए (८।४)। यही सत्यव्रत बाद में त्रिशंकु नाम से प्रसिद्ध हुए।

इसी बीच द्वादशवर्षव्यापी अकाल पड़ा। विश्वामित्र उन दिनों परिवार से दूर तपस्या में लगे हुए थे। उनकी सन्तानें दुर्भिक्ष से मरने-मरने को आयीं। उस समय सत्यव्रत ने ही उन्हें बचाया (७।१०५-१०६)। वशिष्ठ के विरुद्ध बहुत दिनों से सत्यव्रत के मन में क्रोध संचित था। वशिष्ठ ने उन्हें कभी सावधान नहीं किया था, इसीलिये पिता ने रुष्ट होकर उनका त्याग कर दिया था (जब पिता रुष्ट होकर उन्हें वनवास दे रहे थे, तब भी वशिष्ठ ने बाधा नहीं दी, (८।५।६) उलटे राज्य चलाने का भार अपने ऊपर ले लिया (८।४)! इधर सत्यव्रत मृगया से अपना और विश्वामित्र के परिवार का पालन करते रहे (८।१-२)। अभाव के कारण हो या द्वेषवश, सत्यव्रत ने एक दिन वशिष्ठ की गाय मारकर ही अपना और विश्वामित्र के परिवार का भोजन जुटाया। इसी पर वशिष्ठ ने सत्यव्रत को शाप दिया (८।१६)। कृतज्ञ विश्वामित्र ने इसी समय उठकर सत्यव्रत की सहायता की। वे उनके पौरोहित्य के लिए राजी हो गये (८।२०-२३) सत्यव्रत ने भी अपने पिता का राज्य संभाला। वशिष्ठ ने उनका पौरोहित्य छोड़ दिया था, फिर उसी शून्य स्थान पर विश्वामित्र व्रत हुए। राज्य-परिचालना के लिए अब वशिष्ठ की कोई जरूरत नहीं रही। यहीं वशिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़े का प्रधान कारण पाया जाता है।

सुदास राजा के पुरोहित विश्वामित्र ने अपने को कुशिक वंशीय कहकर परिचय दिया है (ऋग्वेद ३।५३।६)। अब, ऐतरेय ब्राह्मण से जान पड़ता है कि वशिष्ठ भी सुदास के पुरोहित थे (७।८।८;८।७।७)। सुदास के इस पौरोहित्य के कारण भी दोनों में विरोध हो सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में वशिष्ठ के पुत्र शक्ति के

साथ विश्वामित्र के कलह का आभास पाया जाता है। इस अत्यन्त पुराने उपाख्यान को महाभारत के आदिपर्व (१७४—१७६ अध्याय) में विस्तारपूर्वक कहा गया है। वहाँ की कथा से जान पड़ता है कि वशिष्ठ क्षमाशील हैं और विश्वामित्र क्रोधी। अनेक पुराणों में कल्माषपाद को वशिष्ठ के द्वारा दिये हुए शाप की कथा पायी जाती है। ध्यानयोग से यह जान कर भी कि कल्माषपाद निर्दोष हैं, वशिष्ठ ने शाप दिया था कि 'राक्षस होओ' जब कल्माषपाद ने भी शाप देना चाहा, तो उनकी स्त्री मदयन्ती ने राजा को निवृत्त किया। यहाँ ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय में ही क्षमाशीलता अधिक दिखायी गई है (भागवत ९।९।२४) विष्णुपुराण में भी कुछ अधिक विस्तार के साथ यही बात बतायी गई है (४।४।३०)। कल्माषपाद के सन्तान न होने के कारण उनकी अनुमति से वशिष्ठ ने ही मदयन्ती से पुत्रोत्पादन किया था—वशिष्ठस्त-दनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् (भागवत ९।९।३९)। यही बात विष्णुपुराण (४।४।३८) में भी है।

शक, यवन, कंबोज, पारद, पह्लव, हैहय, तालजंघ आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं। इन्होंने सगर का पैत्रिक राज्य छीन लिया था, इसीलिये सगर ने उनके साथ घोर युद्ध किया। ये लोग हारकर उपायान्तर न देख वशिष्ठ के शरणापन्न हुए (विष्णु० ४।३।१८)। वशिष्ठ यहाँ बहुत ही कूटनीति-कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में दिखायी देते हैं। उन्होंने सगर से कहा—'इन जातियों के रक्त से व्यर्थ ही हाथ मत रंगो।' संस्कृति से रहित मनुष्य तो जीवन्मृत ही है। इसीलिये उन्होंने सगर से कहा—"जीवन्मृतों को मारने से क्या लाभ ? तुम्हारी प्रतीज्ञा की रक्षा के लिए मैंने ही उनके धर्म का और ब्राह्मण-संसर्ग का परित्याग करा दिया" (विष्णु० ४. ३. १९—२०)। इस प्रकार हाथ से बिना मारे हुए भी मनुष्य को भीतर-भीतर मार डालने की इस युक्ति से प्रसन्न होकर सगर ने कहा—'तो फिर यही हो' और वशिष्ठ के वचन से उनकी वेश-भूषा और तरह की कर दी (विष्णुपुराण ४-३-२१)।

आदिम युग में जाति-व्यवस्था का लचीलापन

इस प्रकार यवनों का सिर मूँड़कर, शकों का सिर आधा मूँड़कर, [पार]दों को लंबे-लंबे केश बढ़वाकर, पह्लवों की दाढ़ी रखाकर, और इन्हें [त]था अन्य क्षत्रियों को स्वाध्याय और वषट्कार से वंचित करके दण्ड दिया [ग]या[1]। इस प्रकार ब्राह्मणादि के संसर्ग-त्याग से वह म्लेच्छ हो गये[2]।

हमारा इतिहास इसी प्रकार अपनों को पराया बनाने का इतिहास [है]। अति पुरातन काल में सनातन धर्मनिष्ठ वशिष्ठ ने जो कुछ किया [थ]ा, उसका हम अब भी अनुसरण करते जा रहे हैं। किन्तु एक और [ध]ारा थी जो पराये को अपना बना रही थी। ये थे भागवत लोग। [इ]नकी बात अन्यत्र कही जायगी। अपनी संस्कृति और अपनी वेश-भूषा [क]ा ऐतिहासिक मूल्य कितना अधिक है. यह बात इन पुराणों की कथाओं [स]े बहुत अच्छी तरह समझ में आ जाती है।

परन्तु बाद में वशिष्ठ ने विश्वामित्र को ब्राह्मण मान लिया था। [ह]रिश्चन्द्र राजा के पुत्र रोहित को वरुण यज्ञ में बलिदान करने की बात थी। रोहित के बदले में शुनःशेप को बलिदान देने का आयोजन हुआ। उस यज्ञ में विश्वामित्र होता थे, जमदग्नि अध्वर्यु थे, वशिष्ठ ब्रह्मा थे और आयास्य आङ्गिरस उद्गाता थे (ऐतरेय ब्राह्मण ७।३।४) यह बात भागवत (७।६।२२) में भी है। इस प्रकार एक ही यज्ञ में वशिष्ठ और विश्वामित्र को व्रती देखकर अनुमान होता है कि वशिष्ठ ने विश्वामित्र को ब्राह्मण रूप में स्वीकार कर लिया था, यद्यपि इस यज्ञ में विश्वामित्र का ही पौरोहित्य का दावा अधिक था; क्योंकि दुर्दिन में उन्होंने सपरिवार सत्यकाम की सहायता की थी। फिर भी इस दारुण नरमेध में वशिष्ठ को पौरोहित्य के लिए व्रती देखा जा रहा है। इसलिये देखा

---

[1] यवनान् मुंडितशिरसः अर्द्धमुंडान् शकान् प्रलंबकेशान् पारदान् पह्लवांश्चश्मश्रुधारान् निःस्वाध्यायवषट्कारान् एतानन्यांश्च क्षत्रियांश्चकार। (विष्णुपुराण ४।३।२१)

[2] तेच निज धर्म परित्यागाद्ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः। (वही)

जाता है, इस प्रकार के दारुण नरमेध का भार लेकर भी वे विश्वामित्र को पुरोहित के रूप में पूर्ण रूप से स्वीकार कर सके थे। Vedic Index नामक ग्रन्थ में यद्यपि कहा गया है कि वशिष्ठ और विश्वामित्र एक-एक व्यक्ति ही नहीं हैं फिर भी यहाँ फिर से कह रखा जाय कि न तो वशिष्ठ ही एक व्यक्ति थे और न विश्वामित्र ही। वशिष्ठ भी कई हो गये हैं, विश्वामित्र भी कई। प्रत्येक वशिष्ठ से प्रत्येक विश्वामित्र का झगड़ा ही रहा हो, ऐसी कोई बात नहीं। एक के साथ जब दूसरे का स्वार्थगत संघर्ष घटा है, तभी विरोध हुआ है। सब विश्वामित्रों और सब वशिष्टों की कहानियाँ देना बेकार है। नाना पुराणों में ये कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं[1]।

विश्वामित्र के सिवा और भी बहुतेरे मंत्रद्रष्टा ऋषि क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे। वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम दस मंत्रों के द्रष्टा हैं मधुच्छन्दा (ऐतरेय आरण्यक १।१।३; कौशीतकि ब्राह्मण १८।२) जो विश्वामित्र के पुत्र थे। (ऐतरेय ब्राह्मण ७।१।७।७)। चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा वेदमंत्रों (ऋग्वेद १०।९५।१, ३, ६, ८, ९, १०, १२, १४ १७, ऋक्) के ऋषि थे। शान्तनु के भाई देवापि की बात तो पहले ही कही गयी है। कोलब्रुक ने और भी कई नाम गिनाये हैं।[2]

[1]मेरे मित्र पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री "वशिष्ठ-विश्वामित्र-संदेश" नाम का एक विचारपूर्ण प्रबन्ध 'भारतवर्ष' (१३३७ भाद्र, पृ० ३३७-३४७ में लिखा है। जैसा ही यह सुन्दर भाव से लिखित है, वैसा ही गंभीर चिन्ता से समन्वित। मैंने इस प्रसंग के लिखने के पहले यदि उसे देखा होता, तो वृथा इस प्रसंग में इतना परिश्रम न करके उस प्रबन्ध को ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर देता। जो पाठक इस विषय से और भी अधिक परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, वे उसे ज़रूर पढ़ें। इसमें अनेक वशिष्ठों और अनेक विश्वामित्रों की आलोचना विशेष रूप से की गई है।

[2]Asiatic Trans, Vol. VIII, P. 393

बाद में चल कर स्त्रियों को शूद्रों की तरह वेद अध्ययन का अनधिकारी माना गया था। पर किसी जमाने में वे भी मंत्र द्रष्टा ऋषि थीं ?

देवापि की कथा महाभारत में भी पायी जाती है। यहाँ उन्हें आर्ष्टिसेन कहा गया है, यह उनके पितृ नाम से प्राप्त परिचय है। देखा जाता है कि पाण्डव लोग उग्रतपा राजर्षि आर्ष्टिसेन के आश्रम में गये थे। ये तप से कृश हो गये थे, और इनकी धमनियाँ बाहर निकल आयी थीं। इनके आश्रम में फल और फूलों से लदे हुए वृक्ष लगे हुए थे (वनपर्व १५८।१०२-३)। पुरोहित धौम्य ने भी उस राजर्षि का सम्मान किया (वन० १५६।३)। शल्यपर्व में कपाल-मोचन तीर्थ के माहात्म्य वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि 'उस स्थान पर संशितव्रत महात्मा आर्ष्टिसेन ने तपोबल से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, राजर्षि सिंधुद्वीप, महातपा देवापि और महातपस्वी भगवान् विश्वामित्र मुनि ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था[1]।

यहाँ ऐसा जान पड़ता है कि देवापि और आर्ष्टिसेन भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। राजा सिंधुद्वीप की कथा महाभारत में नाना स्थानों पर है। ये जन्हु के वंश में उत्पन्न हुए थे (अनुशासन ४।३-४)। इन्होंने भी देवापि और विश्वामित्र की भाँति ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था (शल्य० ४०।१-२ और १०-११)। सिंधुद्वीप के पुत्र राजर्षि बलाकाश्व थे और उनके पुत्र वल्लभ हुए (अनु० ४।४-५)।

[1]यत्रार्ष्टिसेनः कौरव्य ब्राह्मण्यं संशितव्रतः।
तपसा महता राजन् प्राप्तवान् ऋषिसत्तमः।
सिन्धुद्वीपश्च राजर्षिर्देवापिश्च महातपाः।
ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रस्तथा मुनिः।
महातपस्वी भगवानुग्रतेजा महातपाः।
(शल्यपर्व ३९।३४-३७)

विश्वामित्र ने क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। केवल यही नहीं, उनके पुत्र तपस्वी ब्रह्मवेत्ता और गोत्रकर्ता हुए[1]। इन क्षत्रिय वंशोद्भूत ब्रह्मर्षियों की लंबी सूची महाभारत (वही ५०-५९) में दी हुई है।

महाभारत के आदिपर्व में देखते हैं कि राजर्षि मनु के वंश में अनेक ब्रह्मर्षि हो गये हैं (७५,१२-१५)। नहुष के ६ पुत्र थे, उनमें यति ने योग बल से मुनि होकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था (७५।३१) क्षत्रिय वंशोत्पन्न बहुत से महात्मा ब्राह्मण होकर अव्यय ब्रह्मत्व पाये हैं (आदि० १३७।१४)। भृगु मुनि तो जन्म से ब्राह्मणत्व होता है, यह बात मानते ही नहीं। उनके मत से गुण, चरित्र और आचार के अनुसार ब्राह्मणादि वर्ण होते हैं (शान्ति० १८८-१८९ अध्याय) भीष्म भी कहते हैं कि सदाचारयुक्त शूद्र पूज्य है और असदाचारयुक्त ब्राह्मण भी अपूज्य (अनु० ४७।४८)। इन बातों की चर्चा आगे भी की जा चुकी है।

अनुशासन पर्व (३० अध्याय) में कहा है कि अपने शत्रु प्रतर्दन के भय से राजा वीतहव्य भृगु के आश्रम में शरणापन्न हुए। प्रतर्दन आश्रम में उपस्थित हुए और बोले कि आपके आश्रमस्थ सभी लोगों को देखना चाहता हूँ। भृगु ने कहा कि मेरे आश्रम में कोई क्षत्रिय नहीं है, सभी ब्राह्मण हैं। प्रतर्दन ने सब कुछ समझ कर भी कहा कि मुझे अब कोई दुःख नहीं है क्योंकि मैंने अपने तेज से ही वीतहव्य को क्षत्रिय जाति से वहिष्कृत कराया। इधर वीतहव्य भृगु के वचनमात्र से ब्रह्मर्षि हो गए[2]। केवल यही नहीं उनके पुत्र गृत्समद रचित श्रुति ऋग्वेद में भी

---

[1] तस्य पुत्रा महात्मानो ब्रह्मवंशविवर्धनाः।
तपस्विनो ब्रह्मविदो गोत्रकर्तार एव च॥
(वही ४९)

[2] भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः।
अनु० ३०।५७

है[1]। यह गृत्समद ब्रह्मचारी और ब्राह्मणों के भी पूज्य हुए थे (अनु० ३०।६०) इनकी वंशपरम्परा में वेद-वेदांग के जानने वाले हुए। महाभारत में यह परम्परा इस प्रकार दी हुई है—गृत्समद, सुतेजा, वर्चा, विहव्य, वितत्य, सत्य, सन्त, श्रवा, तम, प्रकाश, वागिंद्र, प्रमति (३०, ६१-६४)।

गृत्समद की बारहवीं पीढी में प्रमति हुए थे। इनके पुत्र रुरु हुए जो घृताची नामक अप्सरा के गर्भ से जन्मे थे। रुरु से प्रमद्वरा के गर्भ से रुरु के शुनक, और शुनक के पुत्र शौनक हुए। महर्षि भृगु के प्रसाद से इस प्रकार एक क्षत्रिय वंश में सबके सब ब्रह्मर्षि हुए (अनु० ३० अध्याय)।

हरिवंश महाभारत का ही खिल या परिशिष्ट है। उसमें से भी ऐसी घटनाओं के प्रमाण पाये जाते हैं। नाभागरिष्ट के दो पुत्र वैश्य से ब्राह्मण हो गये थे[2]। इस श्लोक का अनुवाद बसुमती प्रेस से प्रकाशित बंगला अनुवाद मे इस प्रकार दिया हुआ है कि 'नाभागरिष्ट के दो वैश्य पुत्र थे, जो ब्रह्म में लीन हो गये!' स्पष्ट ही यहाँ अनुवाद के नैपुण्य से वास्तविक तथ्य को ढक देने की चेष्टा की गई है। पर क्या इस एक श्लोक के अनुवाद को बदल देने से वे सभी प्रमाण जो इच्छा पूर्वक या अनिच्छा पूर्वक श्रुति-स्मृति प्रमाणों में रह गये हैं, ढके जा सकते हैं?

गृत्समदवंशज शुनक के शौनक नामक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातीय अनेक पुत्र हुए थे (हरि० २९, १५१९)। ऊपर दिखाया गया है कि गृत्समद क्षत्रिय वीतहव्य की सन्तान थे (अनुशासन ३०।५९)। इसी तरह वत्सभूमि और भृगुभूमि के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि असंख्य पुत्र जन्मे थे (हरि० २९।१५९७-१५१८)।

---

[1] ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मनः।
अनु० ३०।५९

[2] नाभागरिष्टस्य पुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ।
हरि० ११।६५८

बलि के पांच पुत्र अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र और कलिंग 'बालेय' अर्थात् बलिवंशज क्षत्रिय कहलाये। बालेय ब्राह्मण इन्हीं की सन्तान हैं (हरिवंश ३१।१६८४-१६८५)।

प्रतिरथ के पुत्र राजा कण्व हुए। मेधातिथि थे कण्व के पुत्र। बाद में मेधातिथि से ही कण्व ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे (वही ३२।१७१८)।

क्षत्रिय गृत्समद के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अनेक पुत्र हुए (३२।१७५४) पुरुवंशीय राजा और ब्रह्मर्षि कौशिक ये दोनों क्षत्रिय-ब्राह्मण वंश परस्पर सम्बद्ध हैं, यह बात लोकप्रसिद्ध है[1]। राजा दिवोदास के पुत्र ब्रह्मर्षि मित्रयु हुए। इन्हीं से मैत्रायणी शाखा प्रवर्तित हुई। ये लोग क्षत्रोपेत भार्गव ब्राह्मण हैं (वही ३२।१७८९-१७९०)। मौद्गल्यगण भी क्षत्रोपेत ब्राह्मण हैं (३२।१७८१)।

हरिवंश की इन बातों का समर्थन विष्णु पुराण से भी होता है। रथीतर वंशीयगण क्षत्रिय थे, जो आंगिरस नाम से परिचित हैं। इसीलिये इन्हें क्षत्रोपेत ब्राह्मण कहते हैं (विष्णु० ४।२।२)। अम्बरीष के पुत्र थे युवनाश्व। इनसे ही हारित आंगिरस वंश की उत्पत्ति हुई (विष्णु ४।३।५)। गृत्समद के पुत्र शौनक चातुर्वर्ण्य के प्रवर्तक हैं (वही ४।८।१); भार्ग के पुत्र भार्गभूमि भी चातुर्वर्ण्य के प्रवर्तक हैं (वही ४।८।९); नेदिष्टपुत्र नाभाग वैश्य हो गये थे (४।१।१५) फिर भी इनमें कोई-कोई ब्राह्मण हो गये थे, यह आगे ही कहा गया है। गर्ग से शनि हुए। इनके पुत्रगण गार्ग्य और शैनेय नाम से परिचित क्षत्रोपेत ब्राह्मण हैं। राजा अप्रतिरथ से कण्व हुए, कण्व से मेधातिथि। इन्हीं से काण्वायन ब्राह्मण गण उत्पन्न हुए (वही ४।१९।२ और ४।१९।१०)। मुद्गल से मौद्गल्य-गण ब्राह्मण हुए जो स्वयं क्षत्रिय वंशोत्पन्न थे (४।१९।१६)।

---

[1] पौरवस्य महाराज ब्रह्मर्षेः कौशिकस्य च
संबंधो ह्यस्य वंशेऽस्मिन् ब्रह्मक्षत्रस्य विश्रुतः ॥

भागवत से भी इन बातों का समर्थन होता है। भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। ज्येष्ठ भरत भारतवर्ष के अधिपति हुए। कनिष्ठ ८१ पुत्र महाशालीन महाश्रोत्रिय यज्ञशील कर्मविशुद्ध ब्राह्मण हुए (५।४।१३)। क्षत्रिय पुरुवंश से कोई-कोई वश क्षत्रिय हुए और कोई-कोई ब्राह्मण (९।२०-१)। राजा रथीतर के कोई सन्तान नहीं होने से अंगिरा ने उनकी पत्नी से सन्तान उत्पन्न की। इस वंश में क्षत्रोपेत ब्राह्मणगण उत्पन्न हुए (९।६।३)। भरतवंशीय गर्ग से शिनि और उनसे गार्ग्य लोग। इस प्रकार क्षत्रिय वंश से ब्राह्मण उत्पन्न हुए (९।२१।१९)। राजा दुरितक्षय से तीन पुत्र त्रय्यारुणि कवि और पुष्करारुणि ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था (९।२१।१९-२०)। क्षत्रिय मुद्गल के वंशवाले ब्राह्मण होकर मौद्गल्य नाम से परिचित हुए (९।२१।३३)। करुष क्षत्रिय थे। उनके वंशवाले ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे (९।२।१६)। पार के पुत्र नीप हुए, उनके हुए सौ पुत्र। उन्हीं ने शुककन्या कृत्वी के गर्भ से योगी ब्रह्मदत्त को जन्म दिया। क्षत्रिय मनु के पुत्र हुए धृष्ट और उनके वंशवाले जन्मतः क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण हुए (९।२७।१७)। इत्यादि।

वायुपुराण से भी इन तथा इन्हीं जैसी घटनाओं का प्रमाण पाया जाता है। राजा नहुष के पुत्र संयाति तपोबल से ब्राह्मण हो गये थे (९७।१४)। मांधाता वंशीय युवनाश्व के पुत्र हारित थे। ये लोग आंगिरस हैं, जो क्षत्रोपेत ब्राह्मण हैं (८८।७१-७३)।

पहले ही बताया गया है कि वायुपुराण में कहा गया है कि आदिकाल में न वर्णव्यवस्था थी और न वर्णसंकर। इस आदिकाल की एक मनोरंजक बात यह है कि आदिकाल में वृक्ष के आश्रय से गृहनिर्माण किये जाते थे, फिर वृक्ष को देखकर उसकी शाखाओं के अनुकरण पर लकड़ी फैलाकर गृह बनाये जाने लगे (८।११८) शाखाकार बनने के कारण ही इन्हें शाला कहते थे। इस आदिकाल में कर्मों के शुभाशुभत्व के

अनुसार ब्राह्मणादि वर्ण सृष्ट हुए थे[1]। प्रजावृद्धि के लिए भृगु, पुलस्य, पुलह, ऋतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वशिष्ठ इन नौ मानसपुत्रों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया, जो 'नव ब्राह्मणः' (९।६३) कहलाये। एक अन्य जगह इसी (वायु) पुराण में मनु की गिनती भी इन नौ के साथ की गयी है (५९।८८)। इसी (५९) अध्याय में इन महर्षियों और इनके वंशोत्पन्नों के परिवार का परिचय दिया हुआ है।

वायुपुराण (९१।११५-११७) में निम्नलिखित महात्माओं के क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होकर भी तपोबल से ऋषित्व प्राप्त करने का उल्लेख है—विश्वामित्र, मांधाता, संकृति, कपि, पुरुकुत्स, सत्य, अनूहवान्, ऋथु, आर्ष्टिसेन, अजमीढ़, कक्षीव, शिजय, रथीतर, विष्णुवृद्ध इत्यादि। इसी प्रकार राजा गृत्समद के पुत्र शौनक हुए, जिनके वंश में चारों ही वर्ण उत्पन्न हुए (वायु० ९२।४-५) शौनक और आर्ष्टिसेन क्षत्रियवंशजात ब्राह्मण हैं (वही ६)। नहुष के पुत्र संयाति मोक्ष-मार्ग अवलंबन करके ब्रह्मभूत मुनि हुए थे (वायु० ९३।१४)। दिव्य भरद्वाज ब्राह्मण से क्षत्रिय हुए (वायु ९९।१५७)। गाग्र वंशीयगण क्षत्रियवंशोत्पन्न होकर भी ब्राह्मण हुए (९९।१६१)। गाग्र संकृति और वीर्यवंशीवगण भी क्षत्रवंशजात ब्राह्मण है (९९।१६४)। क्षत्रिय वंठ के पुत्र मेधातिथि थे, इन्हीं से काण्ठायन ब्राह्मण प्रसिद्ध (९९।१७०) हुए। राजा सनति के पुत्र कृत थे, जो कौथुम गोत्रीय हिरण्यगर्भ के शिष्य थे। ये ही चौबीस प्रकार सामवेद के वक्ता थे (९९।१८९-१९०)। इनकी प्रवतित संहिताएँ प्राच्य कहलाती हैं (वही १९१)। मुद्गलवंश वाले मौद्गल्य हैं। ये क्षत्रोपेत ब्राह्मण हैं (१९८)। राजा दिवोदास के पुत्र ब्रह्मिष्ठ मित्रयु राजा थे। इनके वंशज जन्मतः क्षत्रिय होकर भी तपोबल से ब्राह्मण हुए (वही २०७)।

---

[1] ब्राह्मणाःक्षत्रिया वैश्याः शूद्राद्रोहिजनास्तथा।
भाविताः पूर्वजातीषु कर्मभिश्चशुभाशुभैः॥
(वायु० ८।१३४)

लिंगपुराण के मत से विष्णु मरीचि, भृगु, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, अत्रि, वसिष्ठ, संकल्प धर्म और अधर्म को योगविद्याबल से सृष्टि की (पूर्व भाग ३८ अध्याय)। सत्ययुग में वर्णाश्रम व्यवस्था भी नहीं थी; अतः वर्णसंकर भी नहीं थे (वही ३९ अ०)। ब्रह्मा ने प्रजाओं का दुःख दूर करने के लिए क्षत्रियों की सृष्टि और वर्णाश्रम व्यवस्था की प्रवर्तना की। राजा युवनाश्व के पुत्र थे हरित। इन्हीं के वंशज 'हारित' ब्राह्मण हुए। ये लोग अंगिरा वंश के पक्षाश्रित क्षत्रोपेत ब्राह्मण हैं।···क्षत्रिय संभूति के एक पुत्र विष्णुवृद्ध से विष्णुवृद्ध ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। ये भी अंगिरा वंश के पक्षाश्रित क्षत्रोपेत ब्राह्मण हैं (वही, ६५ अ०)।

ब्रह्मपुराण में भी ये कथाएं हैं—नाभाग और वृष्टि की क्षत्रिय सन्तानों की वैश्यत्व प्राप्ति (७।२६), विश्वामित्र की ब्राह्मणत्व प्राप्ति (१०।५५) इस वंश का ब्रह्म-क्षत्र नाम; राजा बलि के वंशज बालेय क्षत्रिय और बालेय ब्राह्मण (१३।२९-३१); राजा गृत्समति के नाना वर्ण के वंशज (१३।६४), क्षत्रिय वत्स और भर्ग के वंशजों के भी कई वर्ण (१३।१८-७०) आदि। इस पुराण में साफ-साफ कहा गया है कि ब्राह्मण धर्म के आचरण और ब्राह्मण जीविका के अवलंबन से क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मण हो सकते हैं[1]। और शुभ कर्मों के आचरण से शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है और वैश्य भी क्षत्रियता को[2]। सत्यवादी, निरहंकार, निर्द्वन्द्व, मधुरभाषी, नित्ययाजी, स्वाध्यायवान्, शुचि दान्त, ब्राह्मणों का सत्कार करने वाला, किसी वर्ण से ईर्ष्या न करने वाला, गृहस्थ व्रत से दो बार ही भोजन करने वाला, शेषाशी,

[1] स्थितोब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति
क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ब्रह्मभूयं स गच्छति (२२३।१४)

[2] एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा।
शूद्रो ब्राह्मणतां गच्छेद्वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्। (२२३।३२)

विजिताहार, निष्काम, गर्वहीन, यज्ञशील और अतिपरायण वैश्य भी ब्राह्मणत्व पा जाते हैं (२२३।३७-४०)। शूद्र भी यदि आगम सम्पन्न और संस्कृत हो तो वह द्विज हो जाता है[1]। इसके विपरीत ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है (२२३।५४) शुचि-कर्मपरायण शूद्र की भी ब्राह्मण सेवा करेगा—यह मत स्वयं ब्रह्मा का है (५५)।

जाति, संस्कार, श्रुति और स्मृति से कोई द्विज नहीं होता, केवल चरित्र से ही होता है। इस लोक में चरित्र से ही सबके ब्राह्मणत्व का विधान है, सद्वृत्त में स्थित शूद्र भी ब्राह्मणता को प्राप्त होता है। ब्राह्मण वही है, जिसमें निर्मल, निर्गुण ब्रह्मज्ञान हो[2]। ब्राह्मण भी जिन कारणों से शूद्र हो जाता है और शूद्र भी जिन कारणों से ब्राह्मण हो जाता है वे भी (२२३।६५-६६) बताये गये हैं।

कहने का मतलब यह है कि वैदिक युग में जाति-व्यवस्था की इतनी कड़ाई नहीं थी। बहुत दिनों के बाद तक भी जाति-भेद की दीवार एकदम अलंघ्य नहीं थी। यद्यपि महाभारत और पुराणादि के समय जन्मगत जाति ही प्रवर्तित हो गई थी, और स्थान-स्थान पर इनमें जन्मगत ब्राह्मण की प्रशंसा और महात्म्य का बहुत उल्लेख है तथापि ऊपर के प्रमाणों से, जो कुछ कुछ संग्रह किये गये हैं, स्पष्ट है कि उन दिनों भी प्राचीन आदर्श समाज के चित्त से एकदम धुल नहीं

---

[1] शूद्रोऽप्यागमसंपन्नो द्विजो भवति संस्कृतः (२२३।५३)

[2] न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतिर्नच सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्।
सर्वोऽयं ब्राह्मणोलोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितश्च शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं च गच्छति।
ब्रह्मस्वभावः सुश्रोणि, समः सर्वत्र मे मतः।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः।
(वही २२३।५६-५८)

गया था। ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं और भी बहुत-सी हैं, जो शास्त्र-ग्रन्थों में नाना स्थानों में बिखरी पड़ी हैं। सबका उद्धृत करना ऊबा देने वाला भी होगा और निष्प्रयोजन भी। जो लोग अधिक प्रमाण के प्रेमी हों, वे मूल ग्रन्थों को ही देख सकते हैं। यह जरूर है कि कभी-कभी देशी भाषाओं के अनुवादक एक विशेष दृष्टि से देखने के कारण ऐतिहासिक प्रमाणों को अनुवादचातुर्य से ढकने का प्रयत्न करते हैं, इसलिये कोई कोई अनुवाद पाठकों को भ्रान्त कर सकते है। फिर भी शास्त्र ग्रन्थों में ऐसी बातों की इतनी चर्चा है कि उन्हें ढक सकना असम्भव है।

केरल में प्रसिद्ध है कि परशुराम ने धीवरों को जनेऊ देकर ब्राह्मण बनाया था। पुराणों में इसकी चर्चा है। भविष्य पुराण के अनुसार व्यास धीवरी से, पराशर श्वपच-कन्या से, शुकदेव शुकी से, कणाद अनार्य ओलका से उत्पन्न हुए थे (४२ अध्याय)। वसिष्ठ की पत्नी अक्षमाला की पहली जाति भी हीन ही थी।

ब्राह्मण को ज्ञान और तपस्या से पहचाना जाता है, कुल और माता-पिता से नहीं। कृष्ण यजुर्वेद कहता है—ब्राह्मण के माता-पिता को क्यों पूछते हो? यदि उसमें श्रुत है तो वही उसका पिता है, वही पितामह[1]। महाभारत शान्तिपर्व (१८८।१८६ अध्याय) में भी इसी बात की प्रतिध्वनि है। भीष्म कहते—एकता, सत्यता, मर्यादा, अहिंसा, सरलता और कर्म में अनासक्ति, इनसे बढ़ कर ब्राह्मणों का कोई धन नहीं है[2]।

---

[1] किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरं।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः। (काठक संहिता ३०।१)

[2] नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः। (शान्ति० १७५।३-७)

यह उदारता धीरे-धीरे भारतवर्ष में दुर्लभ होती गयी। फिर भी यह आशा की ही बात कही जानी चाहिए कि वह एक दम लुप्त नहीं हुई। आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले कानपुर में गङ्गातट पर एक आचार-निष्ठ ब्राह्मण शूद्र के जल के छींटे के पड़ने से एकदम क्रुद्ध होकर उस शूद्र को मारने दौड़े। साधक-श्रेष्ठ तुलसी साहब हाथरसी वहीं स्नान कर रहे थे। उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। बिचारा शूद्र लज्जा ग्लानि और भय से काँप रहा था। तुलसी साहब ने उस ब्राह्मण से पूछा—इसे क्यों मार रहे हो? जवाब मिला—यह भगवान् के चरण से उत्पन्न है, इसलिये जघन्य और निकृष्ट है, इसने मुझे अपवित्र कर दिया है! फिर तुलसी साहब ने ब्राह्मण देवता से पूछा—आप गङ्गा नहाने क्यों आये। इस पर जवाब मिला—गंगा विष्णु पादोद्भवा हैं, इसलिये पतितपावनी है। तुलसी साहब ने कहा—हाय, जिस चरण से उत्पन्न होकर जलमयी गङ्गा पतितपावनी हुई, उसी चरण से उत्पन्न होकर शूद्र ऐसा दीन-हीन पतित हुआ कि जिसे छू दे वही अपवित्र हो जाय!

यह तुलसी साहब अत्यन्त सम्भ्रान्त कुलीन ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका यह वाक्य काठक संहिता के उपर्युक्त मंत्र के रचयिता महर्षियों की सन्तान के ही उपयुक्त है।

---

६. जाति व्यवस्था पर आक्रमण

जब वर्णाश्रम धर्म प्रवर्तित हुआ तो उसके साथ एक बहुत ऊंचा आदर्श भी लोक-नेताओं के सामने जरूर रहा होगा। यही कारण है कि उन्होंने ब्राह्मण का स्थान जितना ऊंचा रखा उतना ही उसकी जवाब-देही भी अपरिसीम रख दी। यदि सभी लोग ब्राह्मण पूज्य मानें तो तपस्वी ब्राह्मण भी सरल अनाडंबर जीवन के साथ गम्भीर ज्ञान उच्च आदर्श और कठोर तपस्या के समन्वय से समाज को थोड़े ही व्यय से अग्रसर कर सकें। निश्चय ही यह बहुत बड़ा आदर्श है। यही कारण है कि उन दिनों आदर्श रक्षा का अर्थ ही होता था ब्राह्मण-रक्षा। यही कारण है कि उन दिनों समाज को स्थिति के लिए ब्राह्मण-रक्षा की इतनी व्याकुलता प्राचीन ग्रन्थों में दिख जाती है। किन्तु यदि आदर्श के साथ ब्राह्मण का नित्य योग न हो, तो ब्राह्मण-रक्षा का कोई अर्थ ही नहीं होता। फिर तो इतिहास के ही निकट प्रश्न करना पड़ेगा! दुर्भाग्यवश आदर्श के साथ योग बहुत दिनों तक टिका नहीं रह सका। जहाँ श्रद्धा और सम्मान सहज ही मिल जाता हो, और इसके लिए किसी कठोर तपस्या की आवश्यकता न समझी जाती हो, वहाँ आदर्श से भ्रष्ट होने में कितनी देर लगती है? ऐसी हालत में तपस्या और आदर्श धीरे-धीरे शक्तिहीन और निर्वीर्य हो जाते हैं। सात्विकता और राजसिकता के स्थान पर भी जड़ तामसिकता विराजमान होती है।

इसी प्रकार धीरे-धीरे तपोभूमि, तीर्थों और मठों से व्याप्त हो गई। आचार्य और तपस्वीगण महन्तों और पण्डों के रूप में प्रकट हुए! जिन लोगों के ऊपर समाज के नेतृत्व का भार था वे लोग सरल और अना-डम्बर का जीवन छोड़कर बड़ी-बड़ी नौकरियों और जघन्य व्यवसायों में जा फँसे। पैसा ही उनका ध्येय हो उठा। ऐसी अवस्था में वे अगर पुराने

सम्मान का लोभ न छोड़ें तो काम कैसे चलेगा ? दोनों ओर की सुविधा क्या एक ही साथ भोगी जा सकती है । 'हंसब ठठाइ फुलाउब गालू' एक साथ कैसे होंगे ? क्या ही अच्छा हो यदि वे लोग स्वेच्छा से कोई एक ही सुविधा चुन लें - पुराना सम्मान या नया आराम । दोनों का लोभ न करें तभी कल्याण है ।

शास्त्र जोर देकर कहते हैं कि ब्राह्मण का आदर्श उच्च और महान होना चाहिए । उस आदर्श से भ्रष्ट होने पर जन्म से ब्राह्मण होने पर भी उसका ब्राह्मणत्व जाता रहता है । इसीलिये स्कन्द पुराण कहता है कि राजद्वार पर वेद बेचनेवाला ब्राह्मण पतित है (प्रभास खण्ड, प्रभास क्षेत्र महात्म्य २०७। २२-२७), सदाचार हीन, सूदखोर और दुर्विनीत-परायण ब्राह्मण शूद्र हैं (वही २८-३४) । सूदखोर तो अस्पृश्य होता है । आपत्तिकाल में यदि कोई सूदखोरी से जीविका निर्वाह करे, तो स्नान करने से केवल उस समय के लिए पवित्र हो सकता है । यहाँ तक कि क्रियाकर्मान्वित होकर भी यदि ब्राह्मण वेद विद्या हीन हो, तो वह शूद्र हो जाता है । (सौरपुराण १७।३६-३६) ।

लेकिन केवल वेद पढ़ना ही ब्राह्मणत्व के आदर्श के लिए पर्याप्त नहीं है । वेद पढ़ कर भी विचारपूर्वक जो उसका तत्त्व न समझ सके वह ब्राह्मण शूद्र-कल्प अपात्र है (पद्मपुराण, स्वर्गः २६।१३५) ।

उस युग में जो लोग लोकमत की परिचालना करना चाहते थे, उनके अन्तर में जो महान आदर्श था, वह आदर्श समाज-व्यवस्था में अग्रसर हो सके, यही उनकी कामना थी । इसीलिये वर्णाश्रम व्यवस्था में मानव-मात्र की सार्थकता और परम कल्याण ही उनका उद्देश्य था । जहाँ आदर्श और उद्देश्य रहते हैं, वहाँ मनुष्य की विचार-बुद्धि जागृत रहती है । जहाँ कोई भी आदर्श और लक्ष्य नहीं हैं, वहाँ विचार किस बात का होगा ? इसीलिये उन दिनों जब जाति-भेद की व्यवस्था से उनका महत्तम उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, उस समय उन दिनों इस सम्बन्ध में तीव्र विचार जागृत हुए थे । आज उद्देश्य और आदर्श की कला भी

नहीं है, इसीलिये विचार-वितर्क की झंझट भी नहीं है ! प्राचीन काल की तुलना में आजकल हमारा चित्र तामसिकता से भर उठा है। फिर भी कभी-कभी हम लोगों के मन में भी विचार-बुद्धि जागृत हो जाया करती है।

केवल इसी युग में, विदेशियों के संसर्ग से ही हम लोगों ने इस भेद के विषय में नये सिरे से सोचना शुरू किया हो, सो बात नहीं है। आउल-बाउल आदि साधक बहुत दिनों के इस विषय में सबको सचेतन कर रहे हैं। कबीर, रैदास, तुकाराम, नानक, दादू आदि मध्ययुगीन महापुरुषों नेबारम्बार इन विषयों में अपनी तीव्र वाणी व्यवहार की है। जाति-भेद जितना दाक्षिणात्य में कठोर है उतना और कहीं भी नहीं ! इसीलिये तमिल और तेलेगु कवियों की वाणी में भी इसके विरुद्ध तीव्र घोषणा है।

तमिल देश में आगस्त्य लिखित कहा जानेवाला प्रसिद्ध एक तमिल ग्रन्थ है—'जाति-भेद मनुष्य की रची हुई ही व्यवस्था है, उद्देश्य सहज ही अन्न जुटा लेना है। वेद ब्राह्मणों को पोसने के लिए ही रचित हैं !' तमिल कवि सुब्रह्मण्य कहते हैं—'जन्म और मृत्यु सबके समान भाव से ही आते हैं। इनमें कहीं भेद नहीं है।' सूक्ष्म वेदान्त ग्रन्थ में भी ऐसी ही बात कही गई है—जिस दिन से स्त्रियाँ शूद्र हुईं उस दिन से ब्राह्मण के वीर्य से शूद्र-क्षेत्र में उत्पन्न सभी ब्राह्मण 'पारशव' हुए, क्योंकि ब्राह्मण-कन्या होने से क्या हुई। हैं तो सभी स्त्रियाँ शूद्र ही न ? फिर पारशव के गर्भ से शूद्रा की जो सन्तान होगी उसकी जाति क्या है ? इन अनन्त पारशवों से उत्पन्न जो लोग अपने को ब्राह्मण कहते हैं उनका ब्राह्मणत्व कहाँ है ?

तेलेगु कवि वेमन कहते हैं—"जन्म के समय कहाँ थी गायत्री और कहाँ उपवीत ? सूत्र (जनेऊ) हीना माता तो शूद्रा है। उसका पुत्र ब्राह्मण कैसे होगा ? इसीलिये सभी समान हैं, सभी भाई हैं। सबका जन्म एक ही तरह से हुआ है, सबके रक्त और मांस एक ही हैं। फिर क्यों इतना भेद विभेद चलाते हो। क्यों नहीं भाई-भाई मिल कर रहते ?[1]

[1] What the Castes Are, Wilson, Vol, II, P. 90

वीरशैव सम्प्रदाय के प्रवर्तक वसव और रमय्य इन्होंने इस जाति-भेद के मूल में ही कुठाराघात किया है। जैनों और बौद्धों ने भी इस प्रथा पर प्रबल भाव से आक्रमण किया है।

महाभारत में भी कुछ इस ढंग की बात कही गई है। युधिष्ठिर ने कहा है कि शूद्र वंश में होने से ही कोई शूद्र नहीं होता और न ब्राह्मण वंश में होने से कोई ब्राह्मण होता है। जिनमें सत्य, दान, क्षमा, आनृशंस्य, तप और दया होती है, वे ही ब्राह्मण हैं। जिनमें ये नहीं हैं वे ही शूद्र हैं (वनपर्व १०८।२१-२६)। इस प्रसंग में भृगु और भरद्वाज के संवाद को याद किया जा सकता है जिसकी चर्चा पूर्ववर्ती अध्याय में हो चुकी है।

आदिपर्व में जब भीष्म ने कर्ण के जन्म के सम्बन्ध में व्यंग्य किया था तो दुर्योधन ने कहा था कि नदियों और शूरों के उत्पत्तिस्थल दुर्ज्ञेय होते हैं[1]। अग्नि की उत्पत्ति जल से हुई, अथच चराचर उससे व्याप्त है, दधीचि की हड्डियों से दानव-सूदन वज्र की उत्पत्ति हुई। अश्विनी, कृत्तिका, रुद्र और गंगा से कार्त्तिकेय की उत्पत्ति है (१३७।१३) क्षत्रिय कुलोत्पन्न विश्वामित्रादि ने अव्यय ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था (१३७।१४), कलश से उत्पन्न होकर भी द्रोणाचार्य शास्त्रधारियों में श्रेष्ठ हुए हैं। गौतमवंशीय गौतम का जन्म शरस्तंब से हुआ था (१५), हे पाण्डवों, तुम्हारी जन्मकथा भी तो हमें अज्ञात नहीं है (१३७-६१)।

दक्षिण देश में 'कपिलद्वीपम्' नामक एक 'जात पांत तोड़क' ग्रन्थ है। तेलगु के शूद्र कवि वेमन ने भी इस व्यवस्था के प्रति प्रचण्ड आघात किया है।

परन्तु वज्रसूची या वज्रसूचिकोपनिषद् में इन बातों पर प्रचण्डतम आघात किया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता का कुछ पता नहीं चलता। सन् १८२९ में हडसन ने नेपाल में यह ग्रन्थ पाया था, वहाँ

[1] शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल। (१३७।११)

उन्होंने सुना था कि ग्रन्थ के रचयिता अश्वघोष हैं, जिनका समय विटरनित्स के मत से सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी है। सन् १७१० में लिखी हुई इस ग्रन्थ की एक प्रति नासिक में प्राप्त हुई। स्थानीय पण्डितों ने बताया था कि इसके रचयिता शङ्कराचार्य हैं। सन् ९७३-९८१ ई० में चीन में इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद हुआ था। वहाँ यह ग्रंथ धर्मकीर्ति का लिखा बताया जाता है। किन्तु इस देश में यह ग्रंथ उपनिषद् नाम से मशहूर है और उपनिषद् का कोई कर्त्ता नहीं होता! इस समय मेरे हाथ में जो कई प्रतियाँ इस ग्रथ की हैं, उनमें से किसी से भी इसके रचयिता का पता नहीं चलता। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणसीकर रचित ग्रंथ में और खेमराज श्रीकृष्ण दास प्रकाशित ग्रंथ में केवल मूल ही है। आड्यार के महादेव शास्त्री के संस्करण में श्रीवासुदेव-शिष्य उपनिषद् ब्रह्मयोगी की एक व्याख्या भी है। श्री महेन्द्र तत्त्वनिधि विद्याविनोद के संस्करण में बँगला अनुवाद भी दिया हुआ है। इस ग्रंथ की विचार्य वस्तु यह है कि ब्राह्मण कौन है? जीव या देह या जाति या ज्ञान या कर्म या धर्म से ब्राह्मण नहीं होता। अद्वितीयात्मा का साक्षात्कार होने से ही ब्राह्मण होता है।

यह ग्रंथ अत्यन्त तीव्र भाषा में और साथ ही युक्तियुक्त भाव से लिखा गया है। राजा राममोहन राय इसकी विचारप्रणाली को देखकर विस्मित हुए थे। कुछ अंश उद्धृत करके दिखाये बिना समझना कठिन है कि इसका विचार पद्धति कैसी संहत, संयत और शक्तिशाली है। इसीलिये यहाँ उसके कुछ अंश उद्धृत किये जा रहे हैं—

"प्रश्न यह है कि ब्राह्मण कौन है? जीव, देह, जाति, ज्ञान, कर्म, या धर्मी? इनमें ब्राह्मण कौन है[1]?

---

[1]तत्रचोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम, किं जीवः, किं देहः, किं जातिः, किं ज्ञानम् किं धार्मिक इति।

"पहले विचार किया जाय कि क्या जीव ब्राह्मण है ? ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि अतीत और अनागत काल में नाना जातीय देहों में जो जीव चल रहा है वह एकरूप है, एक ही जीव के कर्मवश अनेक देह पैदा होते हैं। इस प्रकार सर्व शरीर के जीव के एकरूपत्व की बात सोचने से जान पड़ता है कि जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता[1]।"

"तो फिर क्या देह ब्राह्मण है ? नहीं। आचाण्डाल सभी मनुष्यों के शरीर पांचभौतिक और एक ही तरह के हैं। सर्वत्र ही जरा-मरण धर्म की एकता दिखती है। ऐसा तो कोई नियम नहीं दिखाई देता कि ब्राह्मण श्वेतवर्ण का, क्षत्रिय रक्त वर्ण का, वैश्य पीत वर्ण का और शूद्र कृष्ण वर्ण का हो। देह अगर ब्राह्मण होता तो पिता के मृत देह को दाह करने पर पुत्र को ब्रह्महत्या का पाप होता। पर ऐसा तो होता नहीं। इसलिये देह ब्राह्मण नहीं है[2]।"

"तो फिर क्या जाति ब्राह्मण है ? नहीं। ऐसा होता तो जात्यन्तर-विशिष्ट अनेक जन्तुओं में भी अनेक जातियाँ होतीं। मनुष्य-जाति के सिवा भी अन्य जाति से बहुत-से महर्षियों का जन्म हुआ है। मृगी से ऋष्यशृङ्ग, कुश से कौशिक, जम्बुक से जाम्बुक, वाल्मीक से वाल्मीकि, कैवर्त-कन्या से व्यास, शशपृष्ठ से गौतम, उर्वशी से वशिष्ठ, कलश से

---

[1] तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इतिचेत्तन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वात् एकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसंभवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति।

[2] तर्हिदेहो ब्राह्मण इतिचेतन्न। आचण्डालादिपर्यन्तानां मानुषाणां पांचभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वात् जरामरणधर्मादिसाम्यदर्शनात्। ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णः वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्ण-वर्णः इति नियमाभावात्, पित्रादिशरीरदहने पुत्रदीनां ब्रह्महत्यादि-दोषसंभवाच्च। तस्मान्नदेहो ब्राह्मण इति।

अगस्त्य उत्पन्न हुए थे, ऐसी श्रुति है। जाति के बिना भी ज्ञान-संपन्न बहुत ऋषि हैं। इसीलिये जाति ब्राह्मण नहीं है[1]।"

तो फिर क्या ज्ञान ब्राह्मण है ? नहीं। अभिज्ञ और परमार्थदर्शी क्षत्रिय भी तो अनेक हैं। इसलिये ज्ञान ब्राह्मण नहीं है[2]।

तो फिर क्या कर्म ब्राह्मण है ? नहीं। सभी प्राणियों के प्रारब्ध-संचित और आगामी कर्मों की समता दिखती है। कर्म से अभिप्रेरित होकर ही सब लोग कर्म करते हैं। इसलिये कर्म ब्राह्मण नहीं हो सकता[3]।

तो क्या धार्मिक ब्राह्मण है ? नहीं। हिरण्यदाता क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भी तो अनेक हैं। इसीलिये धार्मिक ब्राह्मण नहीं है[4]।

तो फिर ब्राह्मण कौन है ? वह, जो अद्वितीय जाति-गुण-क्रियाहीन सत्य ज्ञानानन्तस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार प्रत्यक्ष भाव से करता है।

---

[1] तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुषु अनेकजाति संभवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृंगः मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यायाम्, शशपृष्ठात् गौतमः, वसिष्ठ उर्वस्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाऽपि अग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्नं जातिर्ब्राह्मण इति।

[2] तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनः अभिज्ञाः बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति।

[3] तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्ध संचितागामि कर्मसाधर्म्यदर्शनात्। कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति।

[4] तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्य दातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति।

यही स्मृति-श्रुति-पुराण-इतिहास का अभिप्राय है। अन्यथा और किसी प्रकार से ब्राह्मणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती[1]।

यहीं भविष्यपुराण की बात याद की जा सकती है। इस पुराण में (ब्रह्मपर्व, अध्याय ४१,४२) वर्णाश्रम धर्म पर ठीक इसी प्रकार कठोर आक्रमण किया गया है—जिस लिये सामान्य शूद्र और सम्मान्य ब्राह्मण, ये दोनों सामग्री और अनुष्ठान में समान ही हैं, इसीलिये ब्राह्मण और शूद्रों में बाह्य या आध्यात्मिक कोई भेद नहीं है[2]। इसके बाद तीव्र भाषा में पुराणकार ने दिखाया है कि जाति-जाति में और सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में कोई भेद नहीं है। भेद न तो बाहर है न भीतर, न सुख में, न ऐश्वर्य में, न आज्ञा में, न भय में, न वीर्य में, न आकृति में, न ज्ञान-दृष्टि में, न व्यापार में, न आयु में, न अंग की पुष्टि में, न दुर्बलता में, न स्थिरता में, न चंचलता में, न बुद्धि में न वैराग्य में, न धर्म में, न पराक्रम में, न त्रिवर्ग में, न नैपुण्य में, न रूपादि में, न औषध में, न स्त्री-गर्भ में, न गमन में, न देह के मल-मोचन में, न हड्डी के छेद में, न प्रेम में, न क्रुद में, और न लोम में[3]।

---

[1]तर्हि को ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुण-क्रियाहीनं सत्यज्ञानानंदानन्तस्वरूपं......साक्षादपरोक्षीकृत्य.......वर्तते... स...एव ब्राह्मण इति श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथाहि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव।

[2]सामग्र्यानुष्ठानगुणैः समग्राः
शूद्रा यतः सन्ति समाद्विजानाम्।
तस्माद्विशेषो द्विजशूद्रानाम्नो—
नाध्यात्मिको बाह्यनिमित्तको वा (४१।२९)

[3]तस्मान्नच विभेदोऽस्ति न वहिर्नान्तरात्मनि।
न सुखादौ न चाश्वैर्ये नाज्ञायां ना भयेष्वपि।
न वीर्ये नांकृतौ नाक्षे न व्यापारे न चायुषि।

पुराणकार यही नहीं कहते। आगे बढ़ कर और कहते हैं कि अति यत्नपूर्वक सभी देवता मिलकर भी खोजें तो ब्राह्मण और शूद्रों में कोई भेद नहीं पावेंगे[1]। और "ब्राह्मण लोग भी चाँद की किरण के समान शुक्ल वर्ण नहीं हैं क्षत्रिय लोग भी किंशुक पुष्प से लाल नहीं हैं, वैश्य लोग भी हरताल के समान पीले नहीं हैं और शूद्र कोयले के समान काले नहीं हैं[2]।

चलना, फिरना, शरीर, वर्ण, केश, सुख, दुःख, रक्त, त्वक्, मांस, भेद, अस्थिरस—इनमें सभी तो समान हैं। फिर चार वर्णों का भेद कहाँ है? (४२); वर्ण, प्रमाण, आकृति, गर्भवास, वाक्य, बुद्धि, कर्म, इन्द्रिय, प्राण, शक्ति, धर्म, अर्थ, काम, व्याधि, औषध—इनमें कहीं भी तो जातिगत प्रभेद नहीं है (४३); जिस प्रकार एक ही पिता के चार पुत्रों की जाति एक ही होती है, उसी प्रकार सभी प्रजाओं का वह (भगवान्) एकमात्र पिता है। इसीलिये जातिभेद नहीं है[3]। इसके

नांगे पुष्टे न दौर्बल्ये न स्थैर्ये नापि चापले।
न प्रज्ञायां न वैराग्ये न धर्मे न पराक्रमे॥
न त्रिवर्गे न नैपुण्ये न रूपादौ न भेषजे।
न स्त्रीगर्भे न गमने न देहमलसंप्लवे।
नास्थि रंध्रे न च प्रेम्णि न प्रमाणे न लोमसु। (४१।३५-३८)

[1]शूद्र ब्राह्मणयोर्भेदो मृगयमाणोऽपि यत्नतः।
नेक्ष्यते सर्वधर्मेषु संहतैस्त्रिदशैरपि। (४१,३९)

[2]न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुक्ला न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पवर्णाः।
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चांगारसमानवर्णाः।
(४१,४१)

[3]पादप्रचारैस्तनुवर्ण, केशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन।
त्वङ्मासमेदोऽस्थिरसैः समानाश्चतुः प्रभेदा हि कथं भवन्ति। ४२

बाद वज्रसूची उपनिषद् के समान ब्राह्मण की उत्पत्ति में देहादि अवयव में कहीं भी भेद नहीं, यह दिखाया गया है (४१।४७-५७)।

४२ वें अध्याय में और भी दिल खोल कर जाति-भेद पर आक्रमण किया गया है। पुराणकार कहते हैं कि कैवर्ती के गर्भ से व्यास, चाण्डाल कन्या के गर्भ से पराशर, शुकी के गर्भ से शुकदेव, उलूकी के गर्भ से कणाद, मृगी के गर्भ से ऋष्यश्रृङ्ग, गणिका-गर्भ से वशिष्ठ, नाविका से मुनिश्रेष्ठ मंदपाल, मण्डूकी के गर्भ से मुनिराज माण्डव्य का जन्म है। ऐसे और भी बहुत से लोग विप्रत्व प्राप्त कर चुके हैं (४२।२२-२४)।

ये लोग जाति से नहीं बल्कि तपस्या से सिद्धि प्राप्त कर सके हैं। (४२।२६-३०)। आगे चल कर ४३ वें और ४४ वें अध्याय में यही विचार चलता है और वहाँ यह बताया गया है कि जन्म से नहीं बल्कि चरित्र और तप से उच्चता आती है। बाह्य विधि के ऊपर प्रतिष्ठित वर्णभेद, नितान्त भौतिक और मिथ्या है। अनुसंधित्सु पाठक वहीं देख सकते हैं।

इस प्रकार की बातें और भी नाना पुराणों में और ग्रन्थों में पायी जाती हैं। यहाँ नमूने के तौर पर कुछ संग्रह किये गये हैं। इससे मालूम होता है कि उन दिनों इन सब विषयों में लोगों का चित्त सचेत था। प्रायः ब्राह्मणों को जाति-भेद के लिए दोष दिया जाता है पर यह याद रखना चाहिए कि जाति भेद के विरुद्ध सबसे अधिक तीव्र आक्रमण जिन प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है, वे अधिकांश ब्राह्मणों के ही लिखे हुए हैं।

प्राचीन काल में वीरशैव मत के स्थापयिता आचार्य वसव ने जो स्वयं ब्राह्मण थे, जाति-भेद के विरुद्ध युद्ध घोषणा की थी। इस युग में

वर्णप्रमाणाकृतिगर्भवासवाग्बुद्धिकर्मेन्द्रियजीवितेषु।
बलत्रिवर्गाभयमेषजेषु न विद्यते जातिकृतो विशेषः। ४३
चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका।
एवं प्रजानां हि पितैक एव पित्रैकभावान्न च जातिभेदः॥ ४५
(भविष्यपुराण ४१ अध्याय)

ब्राह्म-समाज के प्रवर्तक राममोहन राय भी ब्राह्मण ही थे। उन्होंने यद्यपि प्रत्यक्ष भाव से जाति-भेद के विरुद्ध कुछ नहीं कहा पर कार्यतः उनकी साधना जाति-भेद के विरुद्ध गई। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द भी ब्राह्मण ही थे। इन्होंने गुणकर्म के अनुसार वर्ण माना है। मध्ययुग के रामानन्द ब्राह्मण ही थे। भक्त साधक ढेढराज भी ब्राह्मण थे। इन दोनों ने जाति-भेद पर कठोर आघात किया है।

खूब संभव है कि बज्रसूची के रचयिता भी कोई ब्राह्मण आचार्य ही होंगे। तुलसी साहब हाथरसी प्रभृति ब्राह्मण वंशोत्पन्न ऐसे बहुत-से धर्मगुरु हैं, जिन्होंने जातिभेद पर तीखा आक्रमण किया है। आज भी जो लोग समाज-संस्कार के व्रत में व्रती हैं वे ब्राह्मणादि उच्च वर्ण के ही लोग हैं। आश्चर्य की बात है कि इन्हें सबसे अधिक विरोध तथाकथित निम्नतर वर्णों की ओर से ही सहन करना पड़ता है।

समाज संस्कार के समस्त क्षेत्रों में ब्राह्मणों को ही आगे आते देखा जाता है। विधवा विवाह के प्रवर्तक स्व० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ब्राह्मण थे। जिन्होंने पहले पहल विधवा कन्याओं का ब्याह कराया था, वे सभी ब्राह्मण ही थे। बेथुन कालेज नामक बंगाल के प्रसिद्ध बालिकाविद्यालय के आदि प्रवर्तक ब्राह्मण ही थे। जब कि सब जगह से स्त्री-शिक्षा का विरोध हो रहा था; उस समय पहले पहल ब्राह्मणों ने ही अपनी कन्याओं को वहाँ पढ़ने के लिए भेजा था।

---

७. परवर्ती काल में जातिभेद

धीरे-धीरे इस देश में चारों ओर के प्रभाव में पड़ कर प्राचीन आर्यों का उदारतायुक्त विचार-विमर्श संकीर्ण होता गया। उन्होंने अब नये सिरे से यह कहना शुरू किया कि यद्यपि पूर्व युगों में ये विधियाँ चलती थीं पर इस कलिकाल में नहीं चल सकतीं। निर्णयसिन्धुकार, इसीलिये कहते हैं कि समुद्र-यात्रा, सन्यास-ग्रहण, द्विजों का असवर्ण विवाह कलियुग में निषिद्ध है[१]। विधानानुसार यतियों का सब जाति का अन्न-ग्रहण और ब्राह्मणों का घर में शूद्र पाचक रखना कलि में निषिद्ध हुआ[२]।

वैद्यनाथ के वर्णाश्रम काण्ड में भी है कि द्विजगण सब द्विजों का अन्न ग्रहण कर सकते हैं, सब जातियों के घर भी अन्न ग्रहण कर सकते हैं और ब्रह्मचारी प्रयोजन होने पर सभी जातियों के घर भिक्षा मांग सकते हैं। किन्तु ब्राह्मण के घर कलियुग में शूद्र पाचक नहीं चल सकता[3]।

कलियुग में यह व्यवस्थाएं नहीं चल सकतीं, इस विधि से ही प्रकट है कि अन्य युगों में चलती थीं। परवर्ती पण्डितों को इन्हें बन्द करने के लिए बहुत से पण्डितों की बहुत-सी बातों की दुहाई देनी पड़ी है!

---

[१] समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा।
(तृतीय पूर्वार्ध, चौखंबा संस्करण, पृ० १२८७)

[२] यतेश्च सर्ववर्णेषु भिक्षाचर्या विधानतः
ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पचनादि क्रियापि च।
(तृतीय पूर्वार्ध, पृ० १३००)

[3] Shama Shastri, P. 77

पर आज ये बातें ऐसी अप्रचलित हो गयी हैं कि हजार शास्त्र वाक्य और युक्तियाँ इनमें कोई हलचल नहीं पैदा कर सकतीं!

पराशर स्मृति ने निम्नलिखित बातों को भी कलि में निषिद्ध कहा है—

(१) द्विजों का असवर्ण विवाह[१] ।

(२) शूद्र भृत्यों के हाथ से ब्राह्मणादि का अन्न ग्रहण[२] ।

(३) यतियों का सर्व वर्ण का अन्न ग्रहण[3] ।

पहले जमाने में ब्राह्मणादि के घर में शूद्र रसोइए होते थे। बाद में निषेध हो गया[४] ।

याज्ञवल्क्य के ब्रह्मचारि प्रकरण में वीर मित्रोदय में लिखा है कि व्यास का कथन है कि ब्रह्मचारी सब वर्णों के गृह का अन्न ग्रहण कर सकते हैं (२६) फिर भविष्य पुराण उद्धृत करके कहते हैं ब्रह्मचारी गण प्रयोजन होने पर सब वर्णों का अन्न ग्रहण करेंगे (चौखंबा पृ० ६१)। इनके मत से ऐसा जान पड़ता है कि शूद्रान्न अच्छा नहीं है; किन्तु आपत्काल में उसे खाकर मनस्ताप से शुद्धि होती है (आपस्तम्ब संहिता ८।२०)।

अध्यापक घुरे ने अपनी पुस्तक (पृ० १३) में दिखाया है कि क्रमशः परवर्ती काल में जाति-भेद की तीव्रता इतनी दूर बढ़ गयी थी कि माधव के मत से शूद्र के साथ एक गृह में बास करना या एक सवारी पर

---

[१] कन्यानामसवर्णानां विवाहश्च द्विजातिभिः ।

[२] शूद्रेषु दास गोपाल-कुलमित्र-र्द्धसीरिणाम् ।
भोज्यान्नयता.................. ..।

[3] यतेस्तु सर्ववर्णेभ्यो भिक्षाचर्या विधानतः ।

[४] ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पचनादिक्रियापि च ।
पराशरमाधव (चन्द्रकान्त तर्कालंकार) प्रथम अध्याय, आचार काण्ड, पृ० १२३-१२५ ।

जाना भी अवैध कहा गया। शूद्र का अन्न अभक्ष्य बताया गया। यदि उसका अन्न घृत, तैल या दुग्ध में पकाया गया हो, तो नदी-तीर पर खाया जा सकता है। पराशर के मत के ऊपर ही उक्त आचार्य (माधव) ने अपना मत स्थापित किया है।

चतुर्वर्गचिन्तामणिकार हेमाद्रि का कहना है कि शूद्र का दिया हुआ अन्न यदि ब्राह्मण स्वयं भी रन्धन करे तब भी उसे शूद्र-गृह में बैठ कर खाने से पाप होता है। शूद्रान्न को निषिद्ध करार देने के लिये कमलाकर को अनेक शास्त्रीय वाक्यों की व्याख्या करनी पड़ी है[1]।

दक्षिण देश में धीरे-धीरे व्यवस्था ऐसी हुई कि राह चलते समय ब्राह्मण के आगे-आगे चल कर एक आदमी हीन जाति के लोगों को हटाया करता है। ब्राह्मण को देख कर लोग सवारी पर से उतरने को मजबूर होते हैं। अन्तरजन्मा जाति की कोई कन्या यदि विवाह के पहले ही मर जाय, तो ब्राह्मण बुलाकर पहले उसके गले में विवाह सूत्र बाँधते हैं तब उसका दाह हो सकता है। शूद्र और ब्राह्मण के घर एक पंक्ति में नहीं बन सकते। काठ के कूर्म पृष्ठासन पीढ़े पर ब्राह्मण के सिवा किसी और के बैठने पर पुराने जमाने में उसको प्राणदण्ड हुआ करता था। क्षत्रिय कन्याओं के साथ ब्राह्मण ही सहवास कर सकते हैं। शायद उनका अन्न ब्राह्मण के लिए दूषित नहीं है।[2] ब्राह्मणी के सिवा अन्य जाति की स्त्रियाँ नाभि के ऊपर का अङ्ग वस्त्र से नहीं ढँक सकतीं (वही पृ० ७६)।

शव-संस्कार के विषय में स्वर्गीय राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने विचार पूर्ण आलोचना की है। Indo Aryan ग्रंथ में ये लिखते हैं कि पहले सूत्र-युग में रिवाज था कि ब्राह्मणादि जातियों के मृत देह को वृद्ध

---

[1] Ghurye., P. 93

[2] What Castes Are ? J. Wilson, Vol II, P P 76-77

दास गण श्मशान में ले जाते थे[१]। पर मनु के युग में यह व्यवस्था अचल हो गयी। तब ब्राह्मणादि का मृत देह शूद्र के स्पर्श से दूषित समझा जाने लगा[२]। विष्णु कहते हैं कि मृत द्विज को शूद्र से और मृत शूद्र को द्विजाति से वहन कराना निषिद्ध है[3]। यम और भी आगे बढ़कर कहते हैं कि शूद्र की अग्नि से या शूद्र के ले आये हुए काठ से मृत देह नहीं जलाया जा सकता[४]। वृहन्मनु ने और भी घोषित किया कि द्विज के गृह में यदि कुत्ता शूद्र या अन्त्यज मर जाय, तो उसे अशौच होता है[५]।

अब सवाल यह है कि पुराने जमाने में तो इतना बन्धेज नहीं था। कलि के पहले असवर्ण विवाह भी चलता था और शूद्र के हाथ से पक्वान्न भी ब्राह्मण लोग ग्रहण करते थे। कलियुग में यह निषिद्ध कैसे हुआ? शाम शास्त्री कहते हैं कि बौद्ध और जैन धर्म का वैराग्य प्रधान मत और कृच्छ्राचार ही इसके कारण है (पृ० ६) ऊँचे वर्ण के लोगों ने जीव हिंसा छोड़ी, शूद्रों ने नहीं छोड़ी, इसीलिये इनके हाथ का अन्न निषिद्ध हुआ (पृ० ११)। राजा राजेन्द्रलाल मित्र कहते हैं कि बौद्ध पड़ोसियों के अनुरोध से हिन्दुओं ने गोमांस खाना छोड़ा[६]।

---

[१] अथैनमेतया आसन्द्या सह तत्तल्पेन कटेन वा संवेष्ठ्य दासाः प्रवयसो वहेयुः।

[२] न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता।

[3] मृतं द्विजं न शूद्रेण न च शूद्रं द्विजातिना।

[४] यस्यानयति शूद्रोऽग्नितृणकाष्ठहवींषि च। इत्यादि।

[५] श्वशूद्रपतितश्चान्त्या मृताश्चेद्द्विजमन्दिरे।
शौचं तत्र प्रवक्ष्यामि मनुना भावितं यथा॥ (वही पृ० १३१)

[६] Indo Aryan, Vo-138 I, P.8

यहाँ एक बात का ध्यान आता है। बौद्ध युग में वर्णाश्रम और सामाजिक व्यवस्था में अनेक हेर-फेर हो गया था। ऐसी अवस्था प्रायः हजार डेढ़ हजार वर्ष तक चलती रही। इसके बाद जब वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः स्थापित हुई, तो चतुर्वर्ण का ठीक-ठीक विभाग कैसे हुआ ? यदि कहा जाय कि परवर्ती वर्णाश्रमी गण सभी आगे के वर्णाश्रमियों की सन्तान हैं, तो फिर सवाल यह उठता है कि वर्णाश्रम-विद्रोही बौद्ध लोग क्या एक दम निर्वंश हो गये और वर्णाश्रमी लोग सर्वव्यापी हो गये ? ऐसा भी कैसे हुआ ? बंगाल में पांच ब्राह्मणों के बुलाये जाने के पहले सात सौ घर या दल के ब्राह्मणों का नाम पाया जाता है। प्राचीन ताम्र शासनादि से मालूम होता है कि उन दिनों बंगाल में असंख्य ब्राह्मण परिवार थे। फिर भी आजकल सप्तशती खूब कम ही पाये जाते हैं—नहीं के बराबर हैं। क्या बंगाल के सभी ब्राह्मण उन पांच ब्राह्मणों की ही सन्तान हैं ? तो फिर सप्तशती लोगों का क्या हुआ ?

कुछ लोगों का ख्याल है कि उपनिषदों के जमाने में ही क्षत्रिय लोग धीरे-धीरे याग-यज्ञादि के धर्म से दूर हटते जा रहे थे। बुद्ध और महावीर आदि के समय उनका मत और भी स्वाधीन हुआ। खूब सम्भव परशुराम और क्षत्रियों के विरोध की उत्पत्ति का यही कारण हो। फिर कुछ लोगों का कहना यह भी है कि वेद-विद्या से धीरे-धीरे क्षत्रियों को हटा दिया गया इसीलिये क्षत्रियों ने बौद्ध और जैन आदि मत चलाये[१]।

बौद्ध युग के इतिहास से जान पड़ता है कि उन दिनों जाति-प्रथा इतनी कठोर नहीं थी। यद्यपि बौद्ध शास्त्रों में चार वर्णों का उल्लेख पाया जाता है तथापि उनका भेद-विभेद इतना सुनिर्दिष्ट नहीं हुआ था[२]।

---

[१] Caste and Race, India, P., 64

[२] Sacred Books of Buddhists, Vol. II P. 101

परवर्ती काल में जातिभेद

आभिजात्य के संबन्ध में उन दिनों क्षत्रियों का ही ब्राह्मणों की अपेक्षा उन्नत होना दिखाई देता है। इसीलिये उनका सामाजिक अनुशासन भी अपेक्षाकृत अधिक कड़ा था। राजा ओक्काक ने अपनी छोटी रानी के पुत्र को सिंहासनासीन करने के लिए बड़ी रानी के पुत्रों को निर्वासित कर दिया। वे हिमालय के पास एक शाक वृक्ष के समीपस्थ ह्रद के किनारे रहने लगे। बाद में इस डर से कि कहीं उनके वंश में हीन रक्त का सम्मिश्रण न हो जाय, अपनी ही बहिनों से उन्होंने ब्याह कर लिया (अम्बट्ठ सुत्त १६)।

ब्राह्मण पोक्करसादी के शिष्य ब्राह्मण अम्बट्ठ बुद्धदेव के पास आकर अपने ब्राह्मणत्व की कुछ अधिक बड़ाई करने लगे (अम्बट्ठ सुत्त १०-१५)। इस पर बुद्धदेव ने पूछा कि यदि कोई क्षत्रिय कन्या ब्राह्मण से विवाह करे तो क्या ब्राह्मण लोग उनकी सन्तान को ब्राह्मण मानेंगे! अम्बट्ठ ने जवाब दिया—'जरूर मानेंगे।' फिर बुद्धदेव ने पूछा, यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण कन्या से विवाह करे तो उनकी सन्तान को क्षत्रिय लोग क्षत्रिय मानकर स्वीकार करेंगे! इस पर अम्बट्ठ ने उत्तर दिया कि नहीं। क्योंकि वे लोग कहेंगे कि उस सन्तान की माता हीन है (अर्थात् क्षत्रिय नहीं है, केवल ब्राह्मण ही है!) (वही २४-२५)। अम्बट्ठ ने यह भी स्वीकार किया कि ब्राह्मण लोग जातिच्युत क्षत्रिय को स्वीकार करते हैं (२६)। इसीलिये क्षत्रिय ही आभिजात्य या वंशगौरव में ब्राह्मण से श्रेष्ठ है (२७)। सनत्कुमार का कहना है कि जो गोत्र-विशुद्धि देखते हैं, उनके लिए क्षत्रिय ही श्रेष्ठ हैं। असल में जो विद्या और आचरण में श्रेष्ठ हैं, वे ही देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं (२८)। महाभारत में भी सनत्कुमार की एक व्याख्या में देखा जाता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय के एकत्र होने में ही महाशक्ति है (वन० १८५।२५), राजा ही धर्म है, राजा ही इन्द्र है, राजा ही विधाता है (वही पृ० २६)। शास्त्र प्रमाणों की आलोचना से देखा जाता है जगत् में राजा ही श्रेष्ठ है (वही ३१)।

बुद्धदेव के निकट आचार्य सोणदण्ड ने ब्राह्मण के पाँच लक्षण बताये थे—१, जन्म की विशुद्धि, २, समस्त विद्याओं (अर्थात् मन्त्र, निघंटु सहित तीनों वेद, कर्मानुष्ठान, साक्षर प्रभेद, इतिहास, व्याकरण लोकायत और महापुरुष-लक्षण इत्यादि) में पारगामिता, ३, देह में शक्ति-प्रमाण और सौन्दर्य, ४, शील और सदाचार और ५, पाण्डित्य (सोणदण्ड सुत्त १३ और २०) ।

वरन् देखते हैं कि जो अम्बट्ठ अपने को कण्हायन (कृष्णायन) कह कर बड़ाई कर रहे थे और सभी ब्राह्मण जिनका समर्थन कर रहे थे, उन्हीं अम्बट्ठ के पूर्व पुरुष कण्ह शाक्यवंशीय एक दासी के पुत्र थे (वही पृ० १६) । राजा ओक्काक की एक दासी थी, नाम था दिसा । कण्ह इसी के पुत्र थे (वही) ।

ब्राह्मणों ने कहा, ऐसा कह कर अम्बट्ठ का अपमान मत कीजिए । अम्बट्ठ सुजात, कुल-पुत्र, बहुश्रुत, कल्याण-वाक्, पंडित और प्रश्नों के सदुत्तरदाता हैं (वही पृ० १७) ।

बुद्धदेव ने तब अम्बट्ठ से ही यह बात पूछी । पहले तो वे चुप रहे पर बहुत पूछने पर बुद्ध की बातों को उन्होंने स्वीकार किया (२०) । तब तो ब्राह्मण लोग गोलमाल करने लगे । बुद्ध ने फिर स्वयं ही कहा—इसमें दोष की क्या बात है । कण्ह दक्षिण देश से जाकर सर्वविद्या और सर्वसाधना में प्रवीण होकर लौटे और राजा ओक्काक की कन्या मद्दरूपी से विवाह किया । कण्ह एक महा ऋषि थे । इसीलिये दासी से कण्ह उत्पत्ति की हुई तो भी आप लोगों का अम्बट्ठ पर रुष्ट होना ठीक नहीं है (वही २२-२३) ।

यद्यपि अम्बट्ठ की दाम्भिकता देखकर बुद्ध ने उन दिनों के क्षत्रियों का प्रबल अभिजात्य-गर्व दिखा दिया था तथापि वे स्वयं इन पचड़ों से कहीं ऊपर थे । इस विषय में उनका मत बहुत ही उदार था । सुत्त निपात से जाना जाता है कि विशेष जाति या व्यक्ति के हाथ का अन्न

खाने से मनुष्य अपवित्र नहीं होता। अपवित्रता का कारण है असत् कर्म, असत् वाक्य असत् चिन्ता[1]।

सुत्त निपात के वासेठ्ठ सुत्त में यह प्रश्न उठाया गया है कि ब्राह्मण कैसे होता है ? बुद्ध ने उत्तर दिया वृक्षलता कीट पतङ्ग पशु सरीसृप और मत्स्यादि में नाना प्रकार के नाना बाहरी लक्षण दिखते हैं। ब्राह्मण में ऐसा कोई लक्षणगत वैशिष्ट्य नहीं हैं। इसीलिये जाति में भी कोई भेद नहीं है (वही पृ० १०४)। बुद्धदेव ने बिल्कुल वैज्ञानिक की भाँति कहा—मनुष्य ही एक जाति है, वर्ण या अन्य किसी उपाधि से उनमें भेद-विभेद होना संभव नहीं है (वही)।

वज्रसूच, भविष्यपुराण से लेकर वसव कबीर तक सब ने एक ही बात कही है[2]।

जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर का जन्म भी कुलीन क्षत्रिय कुल में हुआ था। वे सोवाग कुल में उत्पन्न हुए थे (उत्तराध्ययन सूत्र १२-१)। जैन ग्रन्थों में ब्राह्मण क्षत्रिय और बनियों के विशेष-विशेष ग्रामों का उल्लेख मिलता है[3]। उड़ीसा में क्षत्रिय प्राधान्य था। महावीर के पिता के क्षत्रिय मित्र उड़ीसा में रहते थे; इसीलिये ई० पू० ६ठी शताब्दी में महावीर वहाँ गए थे।

क्षत्रिय द्वारा प्रवर्तित होने से जैन धर्म ब्राह्मण का प्राधान्य नहीं है। यद्यपि ब्राह्मणों का जातीय गौरव तब भी था। नन्दवंशीय चन्द्रगुप्त और

---

[1] Sacred Books of the Buddhists, Vol. II., P P 103-104

[2] गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा॥ (कबीर)

[3] Jainism in Northern Inaia, C.T. Shah, P p. 103

विन्दुसार ने जैनधर्म ग्रहण किया था[1] ये लोग मुरा नामक दासी की सन्तान थे पर बाद में मूर्धाभिषिक्त जाति का दावा किया था (वही पृ० १३२)। जैनों में भी अनेकानेक क्षत्रिय और वैश्य बड़े-बड़े पण्डित हो गये हैं। तथापि भारतीय मिट्टी के प्रभाव से इनमें भी क्रमशः जाति-भेद फिर से प्रतिष्ठित हो गया है।

बौद्ध जातकों से प्रकट होता है कि क्षत्रिय ही चारों वर्णों में श्रेष्ठ है। ब्राह्मणों का स्थान उनके नीचे है। वैश्य और शूद्र भी क्रमशः उन्नत होकर क्षत्रियों की श्रेणी में जा सकते हैं। इसी तरह जिस किसी वर्ण का आदमी पौरोहित्य ग्रहण करके ब्राह्मण हो जा सकता है। विवाह के लिए जाति की चहारदीवारियाँ दुर्लंघ्य नहीं हैं। क्षत्रिय विधवा से ब्राह्मण व्याह कर सकता है, यह भी देखा जाता है। क्षत्रियवंशोत्पन्न होकर भी बुद्ध ने एक दरिद्र किसान की लड़की का पाणिग्रहण किया था। जाति के बाहर भी विवाह हो सकता था पर जाति के भीतर होना ही अच्छा समझा जाता था। उच्चवर्ण वालों के नीचे ताँती, नाई और कुम्हार का स्थान था। चण्डाल और अन्त्यजों का स्थान सबके नीचे था[2]।

मनु के बाद से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता में कोई कभी संदेह नहीं किया गया। निश्चित रूप से मान लिया गया कि उस समय ब्राह्मण ही चारों वर्णों में श्रेष्ठ हैं। शायद ऐतिहासिक कारण भी इसके लिये जवाबदेह हैं। ई० पू० ४०० से सन् ई० के बाद ५ सौ वर्ष तक के काल में बाहर से अनेक जातियाँ भारतवर्ष में आई हैं। इस समय युद्ध करते-करते क्षत्रिय

---

[1] कोशल राज से विताड़ित होकर शाक्य वंशीय कुछ क्षत्रिय मयूर बहुल हिमालय प्रदेश में (मोरिय प्रदेश में) वास करने लगे थे। उन्हें ही मोरिय (मौर्य) कहा गया; ऐसा किसी-किसी पालिग्रन्थ में लिखा है।

[2] Mysore Tribes and Castes, Vol I. P. 131

जातियाँ प्रायः समाप्त हो गई थीं। बौद्ध धर्म क्षत्रियों का प्रवर्तित था। बहुत शताब्दी तक वह प्रधान था, बाद में वह ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ चलता रहा। क्रमशः बौद्ध धर्म का बल क्षीण हो आया। राजा हर्ष के बाद क्षत्रियों का प्राधान्य जाता रहा वह ब्राह्मणों के हाथ में चला आया। कहते हैं कि परशुराम ने क्षत्रियों का संहार कर दिया था। नाना कारणों से भारतवर्ष से क्षत्रियों का प्राधान्य लुप्त हो गया (वही पृ० १३४)।

---

८. नाना संस्कृतियों का संगम

नाना कारणों से जान पड़ता है कि जिसे जातिभेद कहते हैं, वह चीज़ आर्य लोग भारतवर्ष में आकर चारों ओर के प्रभाव में पड़कर स्वीकार करने को बाध्य हुए थे। किन्तु यह मानने में भी जाने कैसा एक संकोच होता है कि इतनी बड़ी बात बाहरी प्रभाव से स्वीकृत हुई थी। फिर भी आलोचना करने पर हम देखेंगे कि वर्तमान हिन्दूधर्म में बाहर से आये हुये मतों और आचारों का परिणाम कम नहीं है। पुराणों को देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव, विष्णु आदि की पूजा कितनी विरुद्धताओं के भीतर से हिन्दू-समाज में प्रविष्ट हुई थी, फिर भी उसका प्रभाव इस समय कितना गम्भीर और कितना व्यापक है!

भागवत के दशमस्कंध के ग्यारहवें अध्याय में देखा जाता है कि श्रीकृष्ण ने इन्द्रादि देवता की उपासना बन्द करके वैष्णव प्रेम-भक्ति की स्थापना करनी चाही थी। कितने तर्कों और वाद-प्रतिवादों के भीतर से उन्हें अग्रसर होना पड़ा था, यह बात मूल भागवत के उस प्रसंग को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाती है।

बहुत लोग समझते हैं कि वेदों में आने वाले 'शिश्नदेव'[1] आर्येतर जाति के लिंग-पूजक थे। आर्य लोग इसे पसन्द नहीं करते थे। पर कुछ लोग 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ चरित्रहीन समझते हैं। एक के बाद दूसरे पुराणों में हम देखते हैं कि ऋषि-मुनि लोग शिव-पूजा और लिङ्ग-पूजा को आर्य-धर्म से दूर रखने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं; किन्तु ऋषि-पत्नी गण उनके विरुद्ध आचरण करके शिव-पूजा और लिङ्ग-पूजा को भारतीय आर्य-समाज में चला देने में सफल हो गईं।

[1] ऋग्वेद ७, १, ५; १०, ९९, ३

महादेव नग्न वेश में नवीन तापस का रूप धारण करके मुनियों के तपोवन में आये (वामनपुराण ४३ अध्याय, ५१-६२ श्लोक)। मुनि-पत्नीगण ने देख करके उन्हें घेर लिया (वही, ६३-६६ श्लोक)। मुनिगण अपने ही आश्रम में मुनि-पत्नियों की ऐसी अभद्र कामातुरता देखकर 'मारो-मारो' कहकर काष्ठ-पाषाण आदि लेकर दौड़ पड़े[1]। उन्होंने शिव के भीषण ऊर्ध्वलिङ्ग को निपातित किया[2]।

बाद में मुनियों के मन में भी भय का संचार हुआ। ब्रह्मा आदि ने भी उन्हें समझाया। अन्त में मुनि-पत्नियों की एकान्त अभिलषित शिव-पूजा प्रवर्तित हुई (वामन० ४३।४४ अध्याय)।

ऐसी कहानियाँ अनेक पुराणों में हैं, जिन्हें विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है। उदाहरण के लिए कुछ कहानियाँ दी जाती हैं :—

कूर्मपुराण, उपरि भाग ३७ अध्याय में कथा है कि पुरुष-वेशधारी शिव नारी-वेशधारी विष्णु को लेकर सहस्र मुनिगण-सेवित देवदारु-वन में विचरण करने लगे। उन्हें देखकर मुनि-पत्नियाँ कामार्त्त होकर निर्लज्ज आचरण करने आने लगीं (१३-१७ श्लोक)। मुनि-पुत्रगण भी नारी-रूपधारी विष्णु को देखकर मोहित हुए। मुनिगण मारे क्रोध के शिव को अतिशय निष्ठुर वाक्य से भर्त्सना करने और अभिशाप देने लगे[3]।

---

[1] क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमे तु स्वयोषिताम्।
हन्यतामिति सम्भाष्य काष्ठपाषाणपाणयः।
(वामनपुराण, ४३,७०)

[2] पातयन्ति स्म देवस्य लिंगमूर्ध्वं विभीषणम्। (वही, ७१)

[3] अतीव परुषं वाक्यं प्रोचुर्देवं कपर्दिनम्।
शेपुश्च शापैर्विविधैर्मायया तस्य मोहिताः। (कूर्म० ४७,२२)

५

किन्तु अरुन्धती ने शिव की अर्चना की। ऋषिगण शिव को 'यष्टि-मुष्टिप्रहार' या लाठी और घूँसे की चोट करते हुए बोले—'तू यह लिंग उत्पाटन कर।' महादेव को वही करना पड़ा। पर बाद में देखते हैं कि इन्हीं मुनियों को इसी शिव-लिंग की पूजा स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा!

शिवपुराण के धर्मसंहिता के दसवें अध्याय में देखा जाता है कि शिव ही आदि देवता हैं; ब्रह्मा और विष्णु को उनके लिङ्ग का आदिमूल अन्वेषण करने जाकर हार माननी पड़ी (१६-२१)। (सच पूछा जाय तो आज भी धर्म के इतिहास के गवेषक यह खोजकर पता नहीं लगा सके कि लिङ्ग-पूजा का आरम्भ कहाँ से और कब से हुआ,) देवदारु-वन में सुरतप्रिय शिव विहार करने लगे (धर्मसंहिता, १०, ७८-७६)। मुनि-पत्नियाँ काम-मोहित होकर नानाविध अश्लीलाचार करने लगीं (वही, ११२-१२८)। शिव ने उनकी अभिलाषा पूरी की (वही, १४८)। मुनिगण काममोहिता पत्नियों को सँभालने में व्यस्त हुए (वही, १६०); पर पत्नियाँ मानी नहीं (वही, १६१)। फलतः मुनियों ने शिव पर प्रहार किये (वही, १६२-१६३) इत्यादि। अन्य सब मुनि-पत्नियों ने शिव को कामार्त्त होकर ग्रहण किया था; पर अरुन्धती ने वात्सल्य भाव से पूजा की (वही, १७८)। भृगु के शाप से शिव का लिङ्ग भूतल में पतित हुआ (वही, १८७)। भृगु धर्म और नीति की दुहाई देने लगे (वही, १८८-१६२); किन्तु अन्त में मुनिगण शिवलिङ्ग की पूजा करने को बाध्य हुए (वही, २०३-२०७)।

यही कथा स्कन्दपुराण, महेश्वरखण्ड, षष्ठाध्याय में है, और यह एक ही कथा लिङ्गपुराण (पूर्वभाग, ३७ अध्याय, ३३-४०) में भी पायी जाती है। इसी तरह वायु पुराण के ५५ अध्याय में शिव की कथा कही गयी है। पद्म पुराण नागरखण्ड के शुरू में भी वही कथा है। आनर्त देश के मुनिजनाश्रय वन में किस प्रकार भगवान् शंकर नग्न वेश में पहुँचे (१-१२), किस प्रकार मुनि-पत्नियों का आचरण शिष्टता की सीमा पार

कर गया (१३-१७), मुनिगण यह सब देखकर क्रुद्ध होकर बोले—रे पाप, तूने चूँकि हमारे आश्रम को विडम्बित किया है, इसलिए तेरा लिङ्ग अभी भूपतित होवे[1]। किन्तु यहाँ भी मुनियों को झुकना पड़ा। जगत् में नाना उत्पात उपस्थित हुए (२३-२४), देवतागण भीत हुए और धीरे-धीरे शिव-पूजा स्वीकार कर ली गई।

मुनि-पत्नियों का जो यह शिव-पूजा के प्रति उत्साह दिखाई पड़ता है, इसका कारण पुराणों में उनकी कामुकता बताई गई है; पर यही क्या वास्तविक व्याख्या है? सम्भवतः उन दिनों मुनि-पत्नियां अधिकतर आर्येतर शूद्र-कुलोत्पन्ना थीं, इसीलिये वे अपने पितृकुल के देवता की पूजा करने के लिए इतनी व्याकुल थीं। पति-कुल में आकर भी वे अपने पितृ-कुल के देवता को न भूल सकीं। यह व्याख्या ही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है। प्राचीनतर इतिहास की बात यदि कही जाती, तो मुनि-पत्नियों को व्यर्थ ही इतनी हीन-चरित्रा चित्रित करने की जरूरत नहीं होती।

पुराणादि में ऐसे आख्यान और भी अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं। विस्तार-भय से वे यहाँ उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं। दक्षयज्ञ में शिव के साथ दक्ष का विरोध वस्तुतः आर्य वेदाचार के साथ आर्येतर शिवोपासना का विरोध ही है। दक्ष के यज्ञ में शिव नहीं बुलाये गये, और शिवहीन यज्ञ भूत-प्रेत-प्रमथादि द्वारा विध्वस्त हुआ, इसी से जाना जाता है कि शिव उस समय तक आर्येतर जातियों के देवता थे। शिव किरात-वेशी, शिवानी शबरी-मूर्ति, शिव शबर-पूजित थे—ये सब कथाएँ नाना पुराणों में नाना भाव से मिलती हैं।

वैदिक युग में शिव नामधारी एक जनपद वासी मनुष्य की खबर पायी जाती है (ऋग्वेद ७।१८।७)। पुराण के शिव देवता के साथ क्या

[1] यस्मात्पापत्वयास्माकं आश्रमोऽयं विडम्बितः।
तस्माल्लिङ्गं पतत्वाशु तवैव वसुधातले।
(पद्म पुराण, नागरखण्ड १-२०)

इन लोगों का कोई योग था ? अनेक अनार्य देवताओं को आर्य लोग अस्वीकार नहीं कर सके। आसपास के चतुर्दिक् प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असम्भव है। प्राचीन आर्यगण भी समझ सके थे कि गण-चित्त को प्रसन्न किये बिना वास करना कठिन है। इसीलिये सब यज्ञों में पहले गण-देवता गणपति की पूजा की व्यवस्था की गई। प्राचीन् हव्य-कव्य के मंत्रों में ऐसे बहुत हैं, जिनमें असुर यातुधान और क्रव्यादों को दूर करने के मन्त्र हैं, जो आज भी श्राद्धकाल में पढ़े जाते हैं[1]।

लेकिन इस प्रकार धर-पकड़ से कब याग-यज्ञ चल सकते हैं। इसीलिये यज्ञारम्भ में ही गणपति की पूजा का विधान करना पड़ा। इसलिये गणपति का नाम विघ्न-नाशक है। इसी प्रकार होमाग्नि के पास ही शालिग्राम की शिला स्थापित करके गण-चित्त को प्रसन्न करना पड़ा। इसी प्रकार पश्चिम भारत में हनूमान् आदि की पूजा गृहीत हुई।

यजुर्वेद की वाजसनेयीसंहिता में (१६, ४०-४७; तै. सं, ४, ५, १-११ काठक स १०-११-१६) इन्हीं कारणों से रुद्र और शिव को अपनाकर गण-चित्त की आराधना करने की चेष्टा देखी जाती है। अथर्ववेद के भी अनेक सूक्तों में इस प्रकार के प्रयत्न का परिचय मिलता है (दे० ४।२४; ७।४२; ७।९२ इत्यादि)।

शिव के साथ सम्बन्ध-युक्त होकर भी शिव को न मानने के कारण दक्ष की दुर्गति हुई। भृगु ने जो लिंगधारी शिव को शाप दिया था, यह

---

[1] ओं निहन्मि सर्वं यदमेध्यवद्भवेद्
हताश्च सर्वेऽसुरदानवा मया।
रक्षांसि यज्ञाः सपिशाचसंघा
हता मया यातुधानाश्च सर्वे।
(पुरोहितदर्पण १३१६, १५४५)

और—

ओं अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः।

बात आगे हमने नाना पुराणों के उद्धृत वाक्य में ही देखी है । इन्हीं भृगु ने विष्णु के वक्षस्थल पर पदाघात किया था। जान पड़ता है, भृगुगण खूब निष्ठावान् वैदिक थे। वैष्णव धर्म प्राचीन तर वैदिक के उस पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ । इन्द्र के बाद विष्णु का नाम हुआ "उपेन्द्र इन्द्रावरजः" (अमरकोष)। इन दोनों ही नामों का अर्थ है 'इन्द्र का परवर्ती।'

बहुत दिन पहले की बात है, मैं एक बार गुजरात-बड़ौदा के अन्तर्गत 'कारवण' नामक एक गाँव में गया था। वहाँ बहुत से देव-मन्दिर हैं। तीर्थ होने के कारण ग्राम की अच्छी ख्याति है। वहाँ मुखलिंग देखने के लिए निकल कर मैंने देखा कि मन्दिर के बाहर एक पत्थर पर मस्जिद की मूर्ति खुदी हुई है। पूछने पर मालूम हुआ कि इसी कौशल से इस मन्दिर को हिन्दुओं ने मुसलमानों के आक्रमण से बचाया था।

देवी-पूजा और तन्त्रमत भी धीरे-धीरे वैदिकमत के पास बाहर से आकर खड़े हुए हैं। असल वैदिक मतवादी आचार्यगण उसे शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध ही समझते रहे हैं। मूल आर्य-भूमि से क्रमशः दूर जाकर इन वस्तुओं के साथ आर्य लोगों का परिचय हुआ था। इच्छा से हो या अनिच्छा से, इन मतों का ग्रहण करने के सिवा उनके पास कोई चारा न था। इसीलिये आज वैदिक संध्या के साथ तान्त्रिक संध्या साधारणतः सभी इस देश में किया करते हैं। गुजरात में मैंने देखा है कि ब्राह्मणों के यहाँ भी प्रति परिवार में एक कुलदेवी हैं। बहुतों की कुलदेवी कूप में दीवार के ऊपर गुंथी हुई हैं। सबकी दृष्टि से दूर संरक्षित है। फिर भी विवाहादि प्रत्येक अनुष्ठान में कुलदेवी की पूजा करनी ही होती है। इसी प्रकार ग्राम-देवता भी क्रमशः हमारे समाज में आते रहे हैं और इनकी ठेलमठेल आज इतनी बढ़ गई है कि बेचारे वैदिक देवताओं को ही स्थान-च्युत होना पड़ा है। आज कल देवी-महात्म्य के गानों में प्रायः सुनाई देता है कि 'गावत वेद अघात नहीं यश तेरो महामहिमामयी माता'। गोस्वामी तुलसीदास तो महान

पण्डित थे, फिर भी उन्होंने प्रतिपक्ष के मत को आघात करते समय अपने मत को वेद-सम्मत मत कहा है[१]।

इन वेद-बाह्य देवताओं की पूजा के पुरोहित भी आर्येतर जाति के लोग ही थे। उन दिनों ब्राह्मण लोग इन देवताओं के विरोधी थे। क्रमशः जब इन देवताओं का प्रवेश वेदपंथियों के ग्रंथों में भी हुआ, तब ब्राह्मण लोग भी इन देवताओं के पौरोहित्य में व्रती हुए। दक्षिण में स्त्रियाँ देव-मन्दिर की पुरोहिता हुआ करती थीं, क्योंकि वहाँ के समाज में स्त्री का ही प्राधान्य था। उस मातृतन्त्र-देश में जब वैदिक धर्म पहुँचा, तो तब भी स्त्रियों के फूँकने से ही अग्नि देवता प्रज्वलित होते थे। महाभारत के सहदेव के दिग्विजय प्रसङ्ग में कहा गया है कि जब सहदेव महिष्मती पुरी में पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि वहाँ अग्नि-देवता सुन्दरी कुमारिकाओं के ओष्ठपुट-विनिर्मित वायु के सिवा अन्य किसी भी प्रकार के व्यजन से प्रज्वलित नहीं होते थे[२]। अग्नि ने भी सुन्दरी कन्याओं का संग-लाभ करके उन्हें वर दिया कि तुम्हारे लिए अप्रतिवारण अखण्ड स्वेच्छा विहार विहित हुआ। इसीलिये वहाँ की स्त्रियाँ स्वैरिणी और यथाक्रम-विहारिणी थीं[3]।

स्त्रियाँ ही वहाँ प्रधान थीं। वे ही देवता की साधिकाएँ थीं। उनकी देव-सेवा का यह अधिकार क्रमशः ब्राह्मणों के हाथ में चला गया है। इस समय वे देव-मन्दिर में नर्तकी या देवदासी भर रह गई हैं। यह काम भी प्राचीनकाल के परिपूर्ण सेवा-कर्म के अल्प अंश मात्र में पर्य-

[१]श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ।
(रामचरितमानस, उत्तर, दोहा १५६)

[२]व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत्प्रज्वलते न सः।
यावाच्चारुपुटौष्टेन वायुना न विधूयते। (सभापर्व ३०।२६)

[3]एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे।
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरंत्युत। (सभापर्व ३०।२८)

चसित हो जाने के कारण आजकल मलिन और दूषित हो गया है। दक्षिण-देश का प्रभाव उड़ीसा तक व्याप्त है। इसीलिये पुरी के जगन्नाथ के मन्दिर में अब भी देवदासी की प्रथा प्रचलित है।

वेद के परवर्ती सब देवताओं के पुरोहित या तो स्त्री हैं या अनार्य-जातियाँ। आज भी शूद्र का पौरोहित्य सम्पूर्ण-रूप से लुप्त नहीं हुआ। यद्यपि ब्राह्मणों ने प्रायः सभी पर अधिकार कर लिया है, तथापि नाना छिद्रों से उस प्राचीन युग का आभास मिल ही जाता है। दक्षिण के दासरी शूद्र हैं। उनका पूर्व गौरव अब नहीं है, तथापि वे आज भी बहुत-सी जातियों के गुरु-रूप में पूज्य हैं[1]।

इरालिगा-जाति किसी जमाने में यायावर थी। आजकल उनकी सामाजिक स्थिति अत्यन्त हीन है। कहते हैं वे, देवी के अपने हाथों रचित मनुष्य की सन्तान हैं। ये लोग वन-देवी के पूजक हैं, इसीलिये इन्हें पुजारी कहते हैं। मादिगा एक अति हीन जाति है। इनमें देवी को पूजने वाली बहुत स्त्रियाँ हैं। इन्हें मातँगी कहते हैं। एक मादिगा बालक कहीं बाहर परदेश में ब्राह्मण का छद्म वेश बनाकर गया और वहाँ एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया। बात खुलने पर कन्या ने अग्नि-प्रवेश किया। वही व्याधि की देवी 'मारी' हुई[2]। 'मारी' के पूजक मादिगा भी अत्यन्त हीन जाति के हैं। इसी 'मारी' से क्या बंगला के 'मारी-भय' वाली कहावत का सम्बन्ध है?

दक्षिण के त्रिवांकुर स्टेट में बसने वाली कानिकर जाति असभ्य जंगली है। उनके सभी देवता प्रायः देवियाँ ही हैं। इनकी पूजा मीन और कन्या में अर्थात् वसन्त में और शरत् में होती है[3]। हमारी शारदीय और वसन्ती पूजाओं की इनसे तुलना की जा सकती है।

---

[1] Mysore Tribes and Castes, Vol. III, P. 117
[2] Mysore, Vol. III, P. 157
[3] Thurston, Vol. III, P. 170

जगन्नाथ के मन्दिर में प्राचीन काल से एक श्रेणी के हीनजातीय सेवक हैं। ये 'दैत' या शबर जाति के हैं। इस समय इनके विशेष कुछ कृत्य नहीं हैं, तो भी उत्सवादि के विशेष-विशेष अवसर पर उनकी सहायता निहायत जरूरी होती है। इन शबर सेवकों के सिवा अन्यान्य साधारण शबरों का इस मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध है। इस समय पुरी का जगन्नाथ मन्दिर सवर्ण हिन्दुओं का ही स्थान हो गया है। यद्यपि कहा जाता है कि जगन्नाथपुरी में अन्न-जल के स्पर्श का विचार नहीं है, तो भी वहाँ पाण कण्ड्रा प्रभृति हीन जातियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता। इन सब अन्त्यजों के लिए हम लोगों ने ऐसे अनेक मन्दिरों के द्वार बन्द कर दिये हैं, जिनकी पूजा-अर्चना आदि हमने उन्हीं से ग्रहण की थी, सो भी अनेक विरुद्धताओं के भीतर से। जो लोग इन पूजाओं के प्रवर्तक थे, उन्हीं के लिए आज उन्हीं पूजा-मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार नहीं है।

थर्स्टन साहब कहते हैं कि जगन्नाथ के मन्दिर में नाइयों को भी समय-समय पर देव-पूजा के कार्य में सहायता करनी होती है। तमिल देश के कितने ही अत्यन्त निष्ठावान् शुद्धाचारी शैव मन्दिरों में भी परिया लोग ही विशेष-विशेष वात्सरिक उत्सवों के अवसर पर सामयिक भाव से प्रभुत्व करते हैं[१]। दक्षिण-कर्णाट (कर्नाटक) में केलसी या नापित जाति शूद्रों के किसी किसी अनुष्ठान में पौरोहित्य का कार्य करती है[२]।

दक्षिण में वैष्णवों और शैवों में बहुत से प्राचीन भक्त अन्त्यज और शूद्र जाति के हैं। आचारी वैष्णवाचार्यों के बहुत-से आदि गुरु हीन कही जाने वाली नाना जातियों से उत्पन्न हुए थे। सातानी लोग ऐसे ही हीन शूद्र हैं, जो वैष्णव मन्दिरों के सेवक हैं। सातानी का मूल शब्द है

[१] Ghurye Caste and Race in India, PP. 26-27 : Baihes, PP. 75-76.

[२] Thurston, Vol III. P. 269.

'सात्तादवन' अर्थात् शिखा-सूत्र-विहीन। ये लोग संस्कृत शास्त्र की अपेक्षा बारह वैष्णव भक्तों या आलवारों के ग्रन्थ नालायिरा-प्रबन्धम्' को प्रमाण मानते हैं। रामानुज ने मन्दिर के कार्य में सात्तिनवनों और सात्तादवनों को नियुक्त किया था। सात्तिनवन ब्राह्मण हैं और सात्तादवन शूद्र[१]।

इन सब विष्णु-मन्दिरों में जिन ब्राह्मणों ने शुरू-शुरू में प्रवेश किया था, वे भी समाज में प्रतिष्ठा खो चुके हैं। मारक लोग वैष्णव मन्दिर के सेवक हैं। यद्यपि वे पहले ब्राह्मण थे, पर अब समाज में उनके ब्राह्मणत्व का दावा अस्वीकृत हो चुका है[२]। शिव और विष्णु की आराधना में अति नीच जाति को भी अधिकार है। सन् १४१९ ई० में मध्य-भारत में एक मोची सज्जन ने विष्णु-मन्दिर निर्माण कराया था[3]।

शिव के सम्बन्ध में भी यही बात पहले दिखायी जा चुकी है। वेदाचार के साथ बड़ी लड़ाई लड़ने के बाद शैव धर्म आर्यों के भीतर प्रवेश पाने में समर्थ हो सका। शिव-मन्दिर के पूजक तपोधन गण गुजरात में सामाजिक भाव से अत्यन्त हीन समझे जाते हैं[४]। दक्षिण-देश में शिव-नाम्बी या शिवाराध्यगण शिव-मन्दिर के पुजारी होने के कारण ब्राह्मण होकर भी समाज में अचल हैं। अन्यान्य ब्राह्मण लोग उनके साथ कार्य नहीं करते[५]। शिवध्वजगण स्मार्त सम्प्रदाय के शिव मन्दिर के पुजारी हैं। वे भी समाज में हीन हो गये हैं। मद्रास प्रान्त में इन्हें गुरुकल कहते हैं। ये लोग ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो चुके हैं। किन्तु कोचीन त्रिवांकुर में शिव के पुजारियों की अवस्था इतनी शोचनीय नहीं हो गयी है। देवांग लोग भी शिवपूजक शैव हैं। ये भी ब्राह्मणत्व का दावा करते हैं;

[१] Mysore Tribes and Castes, Vol. VI, P. 591
[२] वही Vol. II. P. 310
[3] Epigraphica Indica, Vol. II, P. 229 Ghurye, P. 99.
[४] Wilson's Indian Caste, Vol. II, P. 122
[५] Mysore Tribes and Castes, Vol. II. P. 318

पर इनका भी दावा नामंजूर हो चुका है। अपने यजन-याजन ये स्वयं करते हैं। प्रधान जीविका इनका कपड़ा बुनना है[१]।

मुस्साद लोग पहले ब्राह्मण थे। द्वापर में शिव-निर्माल्य या शिव का प्रसाद खाने से पतित हुए थे[२]। इनके आचार-विचार विशुद्ध नम्बूद्री ब्राह्मणों के से हैं। संस्कृत साहित्य में ये गंभीर पाण्डित्य प्राप्त करते हैं[३]।

शिव-निर्माल्य का एक और सुन्दर व्यवहार तुलुब लोगों के देश में है। कोई स्त्री यदि सांसारिक निर्यातन से या अन्य किसी कारण से संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहे, तो वह शिव मन्दिर में जाकर प्रसाद खाती है। इससे उसके सभी सांसारिक बन्धन टूट जाते हैं। यदि ऐसी स्त्री बाद में ब्याह करे, तो उसकी सन्तान 'मोयिली' जाति की होती है। उनकी सामाजिक अवस्था हीन है[४]। कलनद तालुका में शिव का निर्माल्य ग्रहण करके स्त्रियां भव-बन्धन से मुक्त हो सकती हैं। इनकी सन्तानों की जाति 'मालेरु' कहलाती है[५]।

चिदम्बरम् महातीर्थ के नटराज-मन्दिर में प्रवेश करते ही प्रथम मूर्ति भक्तवर नन्दनार की है। वे अस्पृश्य पारिया जाति में उत्पन्न हुए थे; किन्तु आजकल उनके गान न होने से ब्राह्मणों का भी कोई अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता।

शास्त्रानुसार ग्रामदेवता की पूजा निषिद्ध है। अर्थात् ग्रामदेवता और देवियों के पूजक ब्राह्मण पतित होते हैं। मनु ने नाना स्थानों पर (३।१५२; ३।१८०) उन्हें पतित कहा है।

---

[१] Mysore Tribes and Castes, Vol. III, P. 137.
[२] Thurston, Vol. V PP. 120:122.
[३] वही, P. 122.123.
[४] वही, Vol. V. P. 81, Mysore Tribes and Castes, Vol. I, P, 218.
[५] Mysore Tribes and Castes, Vol, IV, P. 185.

इन सब अनार्य देवताओं को ब्राह्मणों ने बहुत दिन तक शूद्रों के देवता समझ कर पूजनीय नहीं माना। अवश्य ही आज कल इन देवताओं का पौरोहित्य ग्रहण करके ब्राह्मणों ने इनके वास्तविक पुजारियों का अधिकार लोप कर दिया है। राढ़ देश में अब्राह्मण देवता धर्मराज के मन्दिर में प्रायः शूद्र और अन्त्यज लोग ही पुरोहित होते हैं। इसी बीच अनेक धर्म-मन्दिरों में ब्राह्मणों का पौरोहित्य स्थापित हो चुका है। ऐसे कई मन्दिर हैं, जहाँ के आदि-पूजक शूद्र ही थे; अब उनका प्रवेश निषिद्ध हो गया है। शूद्र-देवता के प्रति ब्राह्मणों की वितृष्णा अब भी बहुत कुछ देखी जाती है। शूद्र के प्रतिष्ठित शिव या ब्राह्मणों के नमस्य नहीं होते इसीलिये बंगाल में शूद्र लोग प्रायः गुरु या पुरोहित से ही देव-प्रतिष्ठा कराते हैं[1]। यह वही प्राचीन काल के अनार्य देवताओं के प्रति ब्राह्मणों के विद्वेष का भग्नावशेष है। पुराणों की मुनियों द्वारा की हुई शिव-विरोधिता और भृगु मुनि द्वारा विष्णु के वक्षःस्थल में लात मारने वाली कथा की याद आती है। आश्चर्य यह है कि इन्हीं देवताओं के प्रति आज लोगों के भय और भक्ति का अन्त नहीं है! शालिग्राम-शिला ने आज वैदिक अग्नि के पार्श्व में स्थान पाया है!

वैदिक आर्यों के मिलन का स्थान यज्ञ था और अवैदिकों का तीर्थ। यह तीर्थ वस्तु ही वेदबाह्य है, इसीलिये वेद-विरोधी मत को तैर्थिक मत कहते हैं (कारण्ड-व्यूह, १०।६२)। वैदिक सभ्यता का केन्द्र और प्रचार स्थल यज्ञ था और अवैदिक सभ्यता का केन्द्र और प्रचारस्थल तीर्थ। तीर्थ अर्थात् नदी का तरण-योग्य स्थान। नदी की पवित्रता आर्य-पूर्व वस्तु है। अब भी भाषा तत्त्वज्ञों ने लक्ष्य किया है कि गंगा प्रभृति नाम और महात्म्य आर्य-पूर्व वस्तु है। संथाल प्रभृति आदिम जातियाँ नदियों और वृक्षों के पूजक हैं। दामोदर नदी में अस्थि नहीं रखने से संथालों की गति नहीं होती। यह नदी की पूजा या नदी में अस्थिनिक्षेप—ये सब

[1] J.N. Bhattacharya, P. 19-20

बातें वेद में तो नहीं मिलतीं। तो फिर ये बातें आईं कहाँ से ? जिन देवताओं से सम्बद्ध माने जाकर तुलसी, वट, अश्वत्थ (पीपल), बिल्व (बेल) इत्यादि वृक्ष पवित्र माने गये हैं, उन देवताओं का आदिम परिचय वेद-विरुद्ध 'देवता' के रूप में ही मिलता है। धीरे-धीरे वृक्षों की पूजा भी निश्चय ही आर्यों ने आर्य-पूर्व भारतीयों से ग्रहण की होगी। बहुत सम्भव है नदी की पूजा भी उन्होंने वहीं से ग्रहण की हो। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे बहुत से अनार्य कुल देवताओं और कुलों के नाम वृक्षवाचक है। ये लोग अपने देवता के नाम वाले वृक्षों का कोई अपमान कभी सहन नहीं कर सकते। थर्स्टन की पुस्तक में सब मिला कर प्रायः एक सौ ऐसे नाम मिलते हैं। इनमें आम है, गूलर है, केला है, पान है, सुपारी है, हल्दी है, अदरख है, पीपल है, बेल है, नारिकेल है, बरगद या तुलसी तथा अन्न अनेक पौधे और वृक्ष हैं। नाना जन्तुओं के नाम पर भी भिन्न जाति या कुलों के नाम है।

बहुत से उत्सव भी अनार्यों से प्राप्त हैं। जैसे होली या वसन्तोत्सव। इसमें नाना प्रकार की अश्राव्य गालियाँ, जुआ खेलना, नशा पीना आदि उन्मत्त व्यवहार प्रचलित है। इनका प्रचलन भी नीची श्रेणियों में ही अधिक है। इसीलिये बहुत लोग इसे शूद्रोत्सव कहते हैं। होलिका-दाह के लिए जो आग जलाई जाती है, वह अनेक स्थानों पर अन्त्यज के घर से मँगाई जाती है। बरार के कुनवियों को अस्पृश्य महारों के यहाँ से होली की आग ले आनी पड़ती है[1]। कहते हैं, होलका नामक राक्षसी की तृप्ति के लिए इस दिन अश्लील गालियाँ सुनाई जाती है। कृष्ण के हाथों यह राक्षसी मारी गई थी। मरने के पहले वह कह गई थी कि इसी प्रकार लोग उसकी प्रेतात्मा का प्रीति-विधान करें।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे बहुतेरे देवता, तीर्थ और उत्सव अनार्यों से प्राप्त हैं! खोज करने पर देखा जायगा कि आर्यों के

[1] Russel, Vol. IV. P. 18,31 ; Ghurye, P. 26

अनेक उपकरण भी आर्य-पूर्व जातियों से गृहीत हैं। इस समय विवाहादि के अवसर पर सिन्दूर एक अपरिहार्य पदार्थ है, इसके बिना विवाह पूर्ण ही नहीं होता ; किन्तु सुरेन्द्र मोहन भट्टाचार्य के पुरोहित-दर्पण (अष्टम संस्करण) के कई स्थान उलट कर देखने से ही पता चल जायगा कि यह सिन्दूर का आचार भी आर्यों ने इसी आर्येतर जाति से ही ग्रहण किया था। सिन्दूर का न तो कोई वैदिक नाम है और न सिन्दूर-दान का कोई मन्त्र। सामवेदीय घट-स्थापन में सिन्दूर को स्पर्श करके जो मन्त्र पढ़ा जाता है, वह यह है : 'ॐ सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तम्' इत्यादि (पृ० ८)। यजुर्वेदी घट-स्थापन में —'ॐ सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो' इत्यादि (पृ० १०)। और विवाह में सामवेदी अधिवास का मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षितम्' इत्यादि (पृ० ७०)। इन तीनों में प्रथम और तृतीय मन्त्र ऋग्वेद (७।४६।४३) में पाया जाता है। वहाँ सिन्धु नदी के उच्छ्वास का प्रसंग है। केवल शब्दसाम्य मात्र से वह सिन्दूर के मंत्र के रूप में व्यवहृत हुआ। द्वितीय मंत्र ऋग्वेद का ४।५८।७ वाँ मंत्र है। इसके साथ भी सिन्दूर का सम्बन्ध नहीं है।

सामवेदी अधिवास मंत्र में स्वस्तिक, शंख, रोचना, श्वेत सर्षप, ताम्र, चामर, दर्पण के जो मन्त्र हैं (७०।७१। पृ०), यद्यपि वैदिक मन्त्र हैं, फिर भी इन पदार्थों के साथ उनका कोई योग नहीं है। सिन्दूर मूलतः नाग लोगों की वस्तु है, उसका नाम भी नागगर्भ और नाग-सम्भव है। शंख और कंबु आदि नाम भी वेद-बाह्य हैं।

बहुत लोगों की धारणा है कि हमारी 'पूजा' नामक क्रिया भी वेदबाह्य है। वेद में यह शब्द भी नहीं है। इसका मूल अवैदिक भाषाओं में मिलता है।

भक्ति भी कहते हैं, अवैदिक है। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में एक सुन्दर कथा है। भक्ति अपना दुखड़ा नारद मुनि से रोते समय कहती है कि मेरा जन्म द्राविड़ देश में हुआ, कर्नाट देश में मैं बड़ी हुई, महाराष्ट्र देश में किंचित् काल वास किया और गुजरात में जीर्ण हो

गई[1]। मध्ययुग के भक्त लोग भी कहते हैं कि भक्त द्राविड़ देश में उत्पन्न हुई थी और रामानन्द उसे उत्तर भारत में ले आये थे[2]।

नृत्य, गीत आदि बहुत-सी और बातें भी इस देश में आकर आर्यों ने संग्रह की, यद्यपि पहले भी इन बातों का कुछ-न-कुछ उनके पास था; किन्तु उसकी समृद्धि यहीं हुई थी। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि भारतीय आर्यों ने अच्छी-बुरी बहुत-सी बातों को इस देश में आने के बाद संग्रह किया था। जातिभेद भी उन्हीं में से एक है।

केवल यही नहीं, और भी ऐसी अनेक बातें आर्यों ने यहाँ से ली थीं, जो पहले उनके समाज में नहीं चलती थीं। बहुत सम्भव है, शुरू-शुरू में समाज में प्रविष्ट होने के बाद भी ऐसी बातें बहुत दिनों तक अपना रास्ता ठीक-ठीक नहीं निकाल सकी होंगी ; ज्यों ही वे थोड़ी प्राचीन हुईं कि उनकी कमजोरियाँ दूर हुईं और सारी सनातनी शक्ति ने उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया !

ज्योतिष का प्रचार भारत में याग-यज्ञ के समय निर्णय के लिए था। फलित ज्योतिष बाद में ग्रीक आदिकों के निकट से आया। पहले पहल इस फलित ज्योतिष का काफी विरोध किया गया था। आज समूचे भारत में फलित ज्योतिष का जय जय कार है। कौन पूछता है कि यह किस विदेश से आया था।

मुसलमानों के साथ सिखों की सदा लड़ाई लगी रही। किन्तु उन्हीं से उन्होंने पूजा सीखी। .कुरान की पूजा के स्थान पर सिखों ने ग्रंथ साहब की पूजा चलाई। बुतपरस्ती समझ कर सब देवियाँ हटाई गईं, किन्तु वे यह समझ ही नहीं सके कि ग्रन्थ-पूजा भी एक बुतपरस्ती हो

[1] उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्ज्जरे जीर्णतांगता।
(पाद्म० उत्तरकाण्ड ५०।५१)

[2] भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।

हैं। मुसलमान लोग जिस प्रकार भगवदुपासना के समय सिर खुला नहीं रखते, उसी तरह सिर ढक, रखना सिखों ने भी उन्हीं से लड़ते-लड़ते सीखा। आज किसी सिख गुरुद्वारे में कोई अनावृत-मस्तक होकर नहीं जा सकता।

राजपूतों ने भी मुसलमान बादशाहों के साथ निरंतर लड़ाई की; परन्तु उन्हीं से इज्जतदारी के चिह्न के रूप में परदा-प्रथा और अफीम-सेवन सीख लिया। सम्भव है, पहले-पहल उन्होंने इन बातों का विरोध ही किया होगा। पर एक बार 'प्राचीनता' से भूषित होते ही उन्हीं की सन्तानें इनके लिए लड़ने लगीं! एक बार जोर-जबर्दस्ती से जो लोग अन्य धर्म में दीक्षित होने को बाध्य किये गये थे, उन्हीं के पुत्रादि ने उसी धर्म के लिए अपने आदिम धर्म के विरुद्ध रक्त की नदियाँ बहाई हैं। भाग्य के ऐसे निष्ठुर परिहास इतिहास की दुनिया में प्रायः देखने को मिल जाया करते हैं।

---

९. असवर्ण विवाह

आर्य लोग जब इस देश में आये तो यहाँ के मूल निवासियों की तुलना में उनकी संख्या नहीं के बराबर थी। किन्तु उन दिनों वे बहुधा विच्छिन्न नहीं थे, नाना वर्णों और उपवर्णों में विभक्त नहीं थे। इसलिये एक संहत दल के रूप में थे। यही कारण है कि उन दिनों उनकी शक्ति अपराजेय थी। इतिहास में यह हमेशा से ही देखा जाता है कि जब एक संहत और व्यूहबद्ध दल संख्या में अपने से अनेक गुना असंहत और विच्छिन्न गृहस्थ लोगों पर आक्रमण करता है तो जो संहत और व्यूह-बद्ध होते हैं वे ही विजयी होते हैं। गृहस्थ बिचारे अपना घर-द्वार लेकर ही व्यस्त रहते हैं, संहत नहीं हो पाते। आक्रमणकारियों के यह सब बला नहीं होती इसीलिये वे व्यूहबद्ध हो कर काम कर सकते हैं। इसी कारण से आर्य लोगों ने आर्येतरों को पराजित किया।

किसी-किसी का मत है कि अनार्यों के संस्रव से अपने को बचाने के लिए ही आर्यों ने जातिभेद स्वीकार किया था। पहले यह भाग वर्ण (रंग) के द्वारा हुआ था इसीलिये जातिभेद का नाम है वर्ण भेद! जाति-भेद से जान पड़ता है कि इस भेद के मूल में 'एथनिक' (Ethnic) विचार है। गुण और कर्म के अनुसार पहले ब्राह्मण और राजन्य ये दो विशेष श्रेणियाँ हुईं यद्यपि इनमें परस्पर का प्राचीर अलंघनीय नहीं था। परस्पर इनका विवाह भी होता था और एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाने का रास्ता भी खुला हुआ था। इसीलिये उन दोनों 'ब्रह्मराजन्यौ' शब्द में एक भेद के होते हुए भी सम्बन्ध जान पड़ता है। बाकी सब आर्य वैश्य थे और आर्येतर जातियाँ शूद्र; जो सब आर्येतर जातियाँ आर्य-संस्कृति में नहीं आई थीं वे सब 'निषाद' कहलाईं। आर्यों में सभी ने वेद के आधार को मान लिया था, ऐसी बात नहीं है। वेद-विरोधी व्रात्य

आर्य भी थे। वेद-विरोधी अनेक व्रात्यों को दल से निकाल कर शूद्र बना दिया गया था।

ऐतरेय ब्राह्मण के एक उपाख्यान में जरा गंभीर भाव से विचार करने का एक विषय है। विश्वामित्र के सौ पुत्र थे। उनमें आधे मधुच्छंदा से बड़े थे, आधे छोटे। बड़े पचास पुत्रों ने पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया; इसलिये वे अन्ध्र पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मुतिब इत्यादि अत्यन्त हेय अन्त्यज हुए। मधुच्छंदा इत्यादि छोटे कई पुत्र मान्य और श्रेष्ठ हुए (ऐतरेय ब्राह्मण, ७ म पंचिका, ६ म खण्ड, ३३ अध्याय)। यहाँ देखा जाता है कि अन्ध्र-शबर आदि ब्राह्मणों के बड़े भाई हैं। यह बात जरा विचारणीय है। जान पड़ता है इसमें एक बड़े Ethnic (मानव) सत्य का आभास रह गया है। अन्ध्र-पुण्ड्र, शबरादि गण सचमुच ही तो बड़े भाई हैं, क्योंकि वे पहिले ही इस देश में आये हैं और ब्राह्मणादि छोटे भाई हैं, क्योंकि वे बाद में इस देश में आये हैं। किसी-किसी अंश में आर्य-पूर्व संस्कृति आर्य-संस्कृति से हीन तो थी ही नहीं, वरन् किसी-किसी अंश में श्रेष्ठ भी थी।

जब जातिभेद धीरे-धीरे प्रतिष्ठित हुआ तो वह नाना प्रकार के सामाजिक आचार-विचार में भी आत्म-प्रकाश करने लगा। शतपथ ब्राह्मण में देखा जाता है कि ब्राह्मणादि चार वर्णों के चैत्य की आकृति भिन्न-भिन्न तरह की होती थीं। (१३।८।३।११)। फिर चार जातियों के अधिकार-भेद और उसकी सीमाएं भी निर्दिष्ट हुईं (ऐतरेय ब्राह्मण ७।२९)। इसमें देखा जाता है कि ब्राह्मण क्षत्रियों के अधिकार की तुलना में वैश्यों और शूद्रों के अधिकार बहुत संकुचित हैं। शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है कि उन दोनों चार वर्णों के संभाषण की रीति और भाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो उठी (१।१।४।१२)।

धीरे-धीरे कर्मानुसार सूत्रधार (बढ़ई), रथकार आदि श्रेणियाँ भी बन गईं। अनार्यों में से अधिकांश नदी और जलाशयों के किनारे रहते थे। उनमें मछली मारने और खाने का रिवाज था। इसलिये उन दिनों इनकी

श्रेणी अर्थात् कैवर्त, दास, मैनाल आदि के नाम प्रायः ही मिल जाते हैं। नौका चलाने वाले को नवाज और वन रक्षकों को उन दिनों वनप कहा जाता था। कुम्हार का नाम कुलाल, नाई का वप्ता, लुहार का कर्मार। इस तरह वृत्ति और व्यवसाय के अनुसार भाग हुए और कुछ देश और कुल के अनुसार भी भाग हुए।

समाज में जातिभेद प्रतिष्ठित होने पर भी बहुत दिनों तक भिन्न-भिन्न जातियों मे विवाहादि सम्बन्ध होते थे। वृहद्देवता में देखा जाता है कि दार्भ्य रथवीति यज्ञ करने के लिए अत्रिपुत्र अर्चनानस को पुरोहित पद पर वृत किया पुरोहित के पुत्र श्यावाश्व भी यज्ञ में पिता की सहायता करने के लिए साथ-साथ गये। राजा की सुन्दरी कन्या को देख कर श्यावाश्व ने उसके साथ विवाह करना चाहा। राजा ने अपनी रानी से कहा कि अत्रिवंशीय श्यावाश्व कुछ उपेक्षणीय (अदुर्वलः) जामाता नहीं है। पर रानी ने कहा कि श्यावाश्व यद्यपि पुरोहित हैं, पर मंत्रद्रष्टा ऋषि नहीं हैं। यदि किसी ऋषि को कन्यादान करो तो कन्या वेदमाता हो सकती हैं। इसलिये श्यावाश्व निराश होकर महर्षि अत्रि के आश्रम में गये। अरण्य में उनके सामने मरुद्गण अभिभूत हुए और श्यावाश्व ने 'य इम् वहन्ते' मंत्र का साक्षात् किया। इस प्रकार ऋषि हो जाने के बाद वे योग्य वर समझे गये (वृहद्देवता ५।५०-७९)। शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि महर्षि च्यवन ने राजा शर्यात की पुत्री सुकन्या से विवाह किया था (४।१।५७)। ये सब विवाह उन दिनों बिल्कुल असाधारण नहीं समझे जाते थे।

उशिजपुत्र ऋषि कक्षीवान् का परिचय अन्यत्र दिया गया है। ऋग्वेद मे इनका कई बार उल्लेख आया है[1]। इन्होंने राजा श्वनयभाव्य की कन्या से विवाह किया था। ये श्वनय अत्यन्त दानी थे। कक्षीवान् ने इनकी दान शीलता की बहुत प्रशंसा की है (ऋक् १।१२६)।

वैदिक युग में ऐसे विवाहों का और भी बहुत उल्लेख है। विस्तार-

[1] ऋग् १।१८१; १।५१।१३; १।११२।११; ८।९।१०; ९।७४।८ इत्यादि

भय से उनकी चर्चा नहीं की जा रही है। महाभारत में भी ऐसे विवाहों की चर्चा है। महर्षि भृगु के पुत्र ऋचिक ने राजा गाधि की परम सुन्दरी कन्या सत्यवती से विवाह करना चाहा। इस पर राजा ने कहा कि हमारे कुल में नियम है कि भीतर लाल और बाहर श्यामल कान वाले ऐसे एक सहस्र घोड़े जब तक नहीं पाते, तब तक किसी को कन्या नहीं देते। ऋचिक ने वरुण की कृपा से ऐसे हजार घोड़े दिये और फलतः सत्यवती के साथ विवाह कर सके। पुत्रबधू समेत पुत्र को देखकर महर्षि भृगु बहुत प्रसन्न हुए (वन० ११५।२१)।

ऋचिक-पुत्र यमदग्नि ने राजा प्रसेनजित् की कन्या रेणुका की पाणि-प्रार्थना की थी। राजा ने कन्यादान किया (वन० ११६।२)। दशरथ राजा की कन्या शान्ता के साथ ऋष्यशृंग ने विवाह किया था। द्रौपदी के स्वयम्बर के अवसर पर ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन जब कन्यार्थी होकर सामने आये, तो इसमें किसी को कोई अन्याय नहीं दिखा था। पुराणों से ऐसी और भी बहुत-सी घटनाएं उद्धृत की जा सकती हैं, पर अधिक उद्धृत करने का कोई प्रयोजन नहीं दिखता।

पारस्कर गृह्यसूत्र के काल में भी अनुलोम विवाह प्रचलित था, यद्यपि उन दिनों सवर्ण अर्थात् अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करना अच्छा माना जाता था। अनुलोम विवाह में ऊँचे वर्ण का पुरुष निम्नतर वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही, इस प्रकार, शूद्र कन्या से विवाह कर सकते थे, पर शूद्रा के साथ किये गए विवाह में वैदिक मंत्रों का उच्चारण विहित नहीं था (१।४।८-११)[1] गौतम धर्मसूत्र (४।१६) और बौधायन धर्मसूत्र (१।८) में इस प्रकार के अनुलोम विवाह सिद्ध होने पर भी क्रमशः ये हीन विवेचित होने लगे। गौतम के मत में क्षत्रिय भार्या के गर्भ से उत्पन्न ब्राह्मण संतान सवर्णाजात (अर्थात ब्राह्मण पुरुष द्वारा ब्राह्मणी स्त्री से पैदा हुई) सन्तान के समान ही है।

[1] Ghurye P. 78

स्मृति के युग में धीरे-धीरे यह प्रथा कम होती गई। मनु यद्यपि असवर्ण विवाह को अस्वीकार नहीं कर सके तथापि उन्होंने इसकी तीव्र निन्दा की है (३-१२; ३।४३-४४)। मनुस्मृति के नवें अध्याय में मनु को यह बात सोचनी जरूर पड़ी है कि असवर्ण स्त्री से उत्पन्न सन्तान को सम्पत्ति में क्या अधिकार है, पर प्रसन्न चित्त से नहीं (९।१४८, इत्यादि। उन्हें यह भी लिखना पड़ा है कि गुरु की असवर्ण पत्नियों का शिष्य लोग कैसे सम्मान करेंगे (२।२१०)।

यद्यपि स्मृति के नाना स्थानों पर अनुलोम विवाहोत्पन्न सन्तान को वैध ही स्वीकार किया गया है, तथापि सम्पत्ति-विभाग के समय ब्राह्मण के क्षत्रिया, वैश्या, और शूद्रा से उत्पन्न पुत्रादि में मनु ने तारतम्य विचार किया है ९।१५१-१५४)। फिर भी इस प्रकार के विवाह की वैधता मनु अस्वीकार नहीं कर सके।

पहले इस प्रकार असवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तानें पिता की ही जाति पाती थीं, क्योंकि आर्यों के समाज में बीज अर्थात् पुरुष ही प्रधान है। आर्येतर समाज में कन्या अर्थात् क्षेत्र प्रधान था। धीरे-धीरे आर्यों में भी कन्या या क्षेत्र का प्राधान्य स्थापित हो गया। आज-कल मालावार के नम्बूद्री ब्राह्मण, जो नायरों की लड़कियों के साथ गृहस्थी चलाते हैं, उसे विवाह न कहकर 'सम्बन्धम्' कहा जाता है। इस 'सम्बन्धम्' से जो सन्तति होती है वह नायर ही होती है। यह व्यवस्था कन्या-तंत्र देश के ही उपयुक्त है। पहले ऐसी सन्तति जो पिता की जाति की मानी जाती है, इसका स्वयं ऐतरेय ब्राह्मणकार महीदास ही हैं। स्वर्गीय सत्यव्रत शामश्रमी ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तिका 'ऐतरेयालोचनम्' में इस बात को सुन्दर ढंग से लिखा है। एक ऋषि की इतरा या शूद्रा पत्नी से उत्पन्न पुत्र ही ऐतरेय थे। यज्ञ के समय ऋषि ने अपनी ब्राह्मणी पत्नी से उत्पन्न पुत्र को ही गोद में लेकर उसे नाना तत्त्वों का उपदेश दिया और विचारे ऐतरेय की उपेक्षा की। दुःखित होकर ऐतरेय ने अपनी माता से अपने मन का दुःख बताया। उनकी माता ने अपनी

कुलदेवी मही को स्मरण किया। शूद्रगण तो मही की सन्तान हैं। पृथ्वी-गर्भ से देवी आविर्भूत हुई और ऐतरेय को दिव्य सिंहासन पर बिठाकर सर्वोत्तम ज्ञान देकर तिरोहित हुई (पृ० ११-१२)। तपस्या और उक्त प्रकार से लब्धज्ञान के बल पर उन्होंने जिस ग्रन्थ की रचना की वही ऋग्वेद का सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण है। महादेवी से शिक्षा पाने के कारण ऐतरेय महीदास भी कहलाते हैं (पृ० ११)।

यहाँ तक कि हरिवंश में भी बीज की ही प्रधानता स्वीकार की गई है। माता तो भस्त्रा (चमड़े का पात्र, भाथी) मात्र है। पुत्र पिता का होता है। जिस पिता से वह उत्पन्न होता है वही होता है[1]। विष्णु-पुराण (४।१९।२) में भी यह मत पाया जाता है।

मनु के जमाने में भी असवर्ण विवाह एकदम अप्रचलित नहीं हो गया था। लेकिन सवर्ण से विवाह ही पसन्द किया जाने लगा था (३।४३)। इसीलिये मनु ने कहा है कि द्विजातियों के विवाह में अपने अपने वर्ण की (सवर्ण) कन्या ही श्रेष्ठ है, किन्तु स्वेच्छाकृत विवाह में ये कन्याएं उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं (३।१२) शूद्र केवल शूद्रकन्या से ही विवाह कर सकता है; वैश्य, वैश्यकन्या और शूद्र कन्या से, क्षत्रिय, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीनों की कन्या से और ब्राह्मण इन सबसे और अपने वर्ण की भी कन्या से विवाह कर सकता है[2]। असवर्ण विवाह में भिन्न-भिन्न जाति की कन्याओं के साथ विवाह में भिन्न-भिन्न विधियों का भी मनु ने विधान किया है (३।४४)। शंखसंहिता (४।६-८;४।१४), विष्णुसंहिता (२४।१-८) और व्याससंहिता (२।१०-११) से भी इस बात का

[1]माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
(हरि० ३२।१७२४)

[2]शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञः स्युस्ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥
(मनु० ३।१३)

ही समर्थन होता है । व्यास (२।१०) कहते हैं कि सवर्ण स्त्री के होते हुए भी जो कोई असवर्ण कन्या से विवाह करे, तो उस कन्या से उत्पन्न संतान भी सवर्णोत्पन्न सन्तान से हीन नहीं होती ।

शूद्र भार्या में ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न कन्या से यदि कोई ब्राह्मण विवाह करे, तो मनु के मत से इस प्रकार सात पुश्त के बाद सन्तान पूरा ब्राह्मण हो जायगी (१०।६४-६५) । मनु ने यह स्वीकार किया है कल्याणकारी विद्या अपर या हीन जन से भी ली जा सकती है, परम धर्म अन्त्यज चाण्डाल से भी और स्त्री-रत्न दुष्कुल से भी ग्रहण किया जाना चाहिए (२।२३८) । अनुलोम विवाहोत्पन्न सन्तान की चर्चा याज्ञवल्क्यसंहिता (१।९१-९२) में भी है और दक्षसंहिता (६।१७) और गौतमसंहिता (४ थ अध्याय) में भी ।

असवर्ण स्त्रियाँ सहधर्मिणी न हो सकती हों, सो बात नहीं है । यज्ञ के लिए अग्निमंथन कार्य ब्राह्मण की सवर्णा स्त्री के करने का ही विधान है, किन्तु अभाव में असवर्ण पत्नी भी यह कार्य कर सकती थी (कात्यायन संहिता ८।६) । विष्णु संहिता में धर्मकार्य में सवर्ण स्त्री को प्रशस्त कहा है पर अभाव के समय अव्यवहित पर वर्ण की पत्नी के साथ उक्त कार्य के करने का विधान किया है (२६।१-२), यद्यपि शूद्र स्त्री के साथ धर्मकार्य करने को उचित नहीं माना गया (२६।४) । आगे दिखाया जायगा कि यह नियम सब समय समाज में मान्य नहीं था । मनु ने स्वयं विचार किया है कि अधम योनिजा कन्या अक्षमाला वसिष्ठ के साथ युक्त होकर और तिर्यक्-कन्या शारंगी मंदपाल ऋषि की परिणीता होकर मान्या पदवी को प्राप्त हुई थीं । इनके सिवा और अनेक नारियाँ निकृष्ट कुल में उत्पन्न होकर भी पति के महद्गुण के कारण उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर गई थीं[1] । शास्त्रकारों ने यह भी निर्देश किया है

[1]अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा ।
शारङ्गी मंदपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ।

कि सवर्णा और असवर्णा स्त्री से उत्पन्न सन्तानों के जातकर्मादि संस्कार कैसे किये जाँय (व्यास १।७-८)। लेकिन ऐसा देखा जाता है कि असवर्ण पत्नियों और उनकी सन्तानों पर से संहिताकारों की ममता क्रमशः कम ही होती गई।

ममता के इस ह्रास का प्रमाण सम्पत्ति-विभाग से जान पड़ता है। विष्णुसंहिता (१८।१-४) कहती है कि ब्राह्मण के यदि चारों वर्णों की पत्नियाँ हों, तो सम्पत्ति के दस भाग किये जाने चाहिए। चार भाग ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र पायेंगे, तीन भाग क्षत्रिया पत्नी वाले, दो भाग वैश्या भार्या से उत्पन्न और एक भाग शूद्रा भार्या से उत्पन्न पुत्र प्राप्त करेंगे। इस व्यवस्था का समर्थन मनु ने भी किया है (९।१५२)। विष्णु संहिता में आगे चलकर बताया गया है कि किसी एक वर्ण या दो वर्ण की पत्नियों के पुत्र न होने पर क्या व्यवस्था होगी। अन्त में, यदि अकेली शूद्रा से उत्पन्न पुत्र ही हो, तो वह आधी सम्पत्ति का अधिकारी बताया गया है—द्विजातीनां शूद्रस्त्वे कः पुत्रोऽर्द्धहरः (विष्णु १८)। याज्ञवल्क्य संहिता (रिकूथ भाग प्रकरण १२८) का भी यही मत है।

मनु का अपना मत यह है कि ब्राह्मण के ब्राह्मणी का पुत्र ३ भाग क्षत्रिया का पुत्र २ भाग, वैश्या पुत्र १½ भाग और शूद्रा-पुत्र १ भाग पायेगा (९।१५१)। गौतम संहिता (२९ अध्याय) में भी ऐसी ही व्यवस्था का समर्थन है।

मनु शूद्रागर्भजात पुत्र को दसवें हिस्से से अधिक देने के बिलकुल विरुद्ध हैं, चाहे अन्य वर्ण की पत्नियों से सन्तान हों या नहीं[1]।

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन् अपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योजितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृ गुणैःशुभैः।
(मनु ९।२३-२४)

[1]नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः। (९।१५४)

युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा था कि ब्राह्मण की ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र तो निःसन्देह ब्राह्मण है. क्षत्रिया और वैश्या से उत्पन्न भी ब्राह्मण ही है फिर बँटवारे में यह विषमता क्यों की जाती है (अनुशासन पर्व ४७।२८)। भीष्म ने इस पर जवाब दिया कि ब्राह्मणी जाति में श्रेष्ठ हैं, इसलिये वे ज्येष्ठा की तरह माननीय हैं। संसार के कर्तव्य और उत्तरदायित्व का भार वहन करने में भी वही अग्रणी हैं, इसीलिये वे श्रेष्ठ हैं और इसीलिये ऐसी व्यवस्था की गई है।

ब्राह्मण गुरु की सवर्णा और असवर्णा दोनों तरह की पत्नियाँ होती थीं। ब्राह्मणादि शिष्यगण उनका सम्मान कैसे करें, इस बात पर मनु का विधान है कि सवर्णा पत्नी तो गुरु के समान ही पूज्य है, किन्तु असवर्णाएं प्रत्युत्थान और अभिवादन आदि से सम्मानित की जानी चाहिए (२।२१०)। विष्णु संहिता में यह बात और भी स्पष्ट करके कही गई है। हीनवर्णोत्पन्ना गुरु पत्नियों को दूर से अभिवादन करना चाहिए. पादस्पर्शादि से नहीं (३२।५) उशनःसंहिता का भी यही मत है (३ । २७)।

पहले ही बताया गया है कि ब्राह्मणादि वर्णों के शव देह पुराने जमाने में शूद्र दास श्मशान में ले जाया करते थे। बाद में शूद्रों का शव को स्पर्श करना निषिद्ध हो गया। आगे चलकर देखते हैं कि यद्यपि पिता और माता के शव को वहन करना और दाह करना पुत्र का ही कर्तव्य है (विष्णुसंहिता १६।३) तथापि द्विजाति का शव शूद्र पत्नी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र वहन नहीं कर सकता (१६।४)!

सवर्णा और असवर्णा पत्नियों की सन्तानों की मृत्यु से अन्यान्य पुत्रों का अशौच कैसे होता था, इसकी नाना प्रकार की व्यवस्थाएं विष्णुसंहिता (२२ अध्याय), उशनःसंहिता (६ ष्ठं अध्याय) और शंखसंहिता (१५।१६-१८) आदि धर्मशास्त्रों में वर्णित है। प्रसङ्गवश यहाँ उशनाःकी एक बात का उल्लेख किया जा रहा है। ब्राह्मण के सेवक क्षत्रिय हों,

वैश्य हों या शूद्र हों, सबके लिए ब्राह्मण के समान दस दिन का ही अशौच विहित है (६।३५) । अधिक दिन का अशौच होने से काम-काज में बाधा पड़ सकती थी, शायद इसीलिये यह व्यवस्था की गई थी ।

अबतक हम अनुलोम विवाह (ऊँचे वर्ण के पुरुष का नीचे वर्ण की कन्या के साथ विवाह) की ही चर्चा करते आये हैं । शास्त्र के मत से यह विहित है, पर इसका उलटा प्रतिलोम विवाह अर्थात् ऊँचे वर्ण की कन्या का नीच वर्ण के वर के साथ विवाह का समर्थन शास्त्र नहीं करता। किन्तु प्राचीन काल के अनेक दृष्टान्तों से ऐसा नहीं मालूम होता कि यह प्रथा एकदम अचल है । दैत्याचार्य शुक्र ब्राह्मण थे । उनकी पुत्री देवयानी ने ययाति राजा से विवाह करना चाहा । ययाति ने संकुचित होकर कहा —मैं क्षत्रिय हूँ तुम्हारे योग्य नहीं हूँ (आदि ८१।१८) । इस पर देवयानी ने कहा कि ब्राह्मण क्षत्रि के साथ और क्षत्रिय ब्राह्मण के साथ संसृष्ट है । जहाँ ऐसी घनिष्ठता है वहाँ मुझे पत्नी रूप में ग्रहण करने में तुम्हें क्या आपत्ति है । तुम स्वयं ऋषि भी हो और ऋषिपुत्र भी हो, मेरे साथ विवाह करो[1] । अनेक तर्क के बाद ययाति को राजी होना पड़ा । स्वयं शुक्राचार्य ने प्रसन्नता से इस पर अपनी सम्मति दी थी (८१।३१) ।

ब्राह्मण-क्षत्रिय की घनिष्ठता की बात कह कर यहाँ देवयानी ने प्रतिलोम विवाह किया । किन्तु शास्त्र में इस कार्य के लिए इनकी किसी ने कोई निन्दा भी नहीं की न लोक में किसी ने इन्हें जाति-बहिष्कृत किया ।

नैमिषारण्य में रोमहर्षण सूतपुत्र शौनकादि ऋषियों को भागवत की कथा सुना रहे थे । बलराम जब वहाँ गये, तो वे उठे भी नहीं और अंजलि बाँधकर नमस्कार भी नहीं किया । बलरामजी ने क्रोध के साथ ऐसे

[1]संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहिताम् ।
ऋषिश्च ऋषिपुत्रश्च नाहुषांग वहस्व माम् ।
(आदि० ८१।१६)

सूतपुत्र को ऋषियों के बीच अत्युच्च आसन पर बैठा देखा[1]। ये सूत प्रतिलोमज थे। श्रीधर स्वामी ने उक्त श्लोकों की टीका में 'सूतं प्रति लोमजं' ऐसा लिखा है। इस प्रकार प्रतिलोमज होने से किसी प्रकार रोमहर्षण का स्थान नीचा हो गया था, ऐसा तो नहीं दिखता।

स्मृतियों के देखने से जान पड़ता है कि शूद्रकन्या और अन्त्यजकन्या से विवाह करना एक दम अचल था। किन्तु शान्तनु के धीवरकन्या के गर्भ से उत्पन्न सन्तान ही तो कौरव-पाण्डव थे। द्रौपदी जब वरणीयों के जाति-कुल का विचार करने लगीं तो उस समय पाण्डवों के क्षत्रियत्व के विषय में तो उन्हें कोई सन्देह नहीं हुआ था हालां कि वही द्रौपदी महावीर कर्ण को सूतपुत्र कहकर वरण करने में असम्मति प्रकट कर चुकी थीं। शायद उन दिनों भी सामाजिक दोष ताजे होने पर ही भयंकर समझे जाते थे, पुराने होने पर वे समाज को स्वीकार हो जाते थे!

आचार्य घुरे कहते हैं कि सुमित्रा भी शूद्रकन्या थीं (पृ० ८० और पृ० ४६) यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। पर उनसे उत्पन्न दशरथ के दोनों पुत्र तो पूरे क्षत्रिय ही माने गये थे!

इसी पुस्तक में अन्यत्र कहा गया है कि दीर्घतमा ऋषि ने दासी के गर्भ से कक्षीव और चक्षुष नामक दो पुत्र उत्पन्न किये थे (वायुपुराण ६६। ७०) दोनों ही ऋषि हुए। ये विवाहित माता के गर्भ से नहीं पैदा हुए थे।

जिस अंध-मुनिपुत्र (श्रवणकुमार) को बध करने के कारण राजा दशरथ इतने मुह्यमान हुए थे, वह भी शूद्रा माता और वैश्य पिता के पुत्र थे (अयोध्या काण्ड ६३।५१)। फिर भी ये एक तपस्वी थे, मस्तक पर जटा थी, परिधान के वल्कलाधीन था (वही ६३।२८;३६) और

---

[1] लोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत।
अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणांजलिम्।
अध्यासीनं च तान् विप्रान् चकोपाद वीक्ष्य माधवः।
(भागवत १०।७८।२२-२३)

दशरथ उनके प्राण त्याग की बात से नितान्त सन्तप्त थे (वही ६३-५२)। इस अन्धतापस को राजा दशरथ ने महर्षि (६४।१) मुनि (६४।७) तापस (६४।१६) आदि कहा है और उनकी माता और उनके पिता को 'भगवन्तौ' कहा है (६४।१८)। उन्होंने यह भी कहा कि वह 'ऋषि' शाप देकर उन्हें तभी भस्म कर सकते थे (६४।२०)। अन्धतापसों ने दशरथ से कहा था कि ज्ञानपूर्वक उस प्रकार 'तपोनिष्ठ' 'ब्रह्मवादी' 'मुनि' पर अस्त्र प्रहार करने से सिर सातखण्डों से विभक्त हो जाता है[1]। यही नहीं, दशरथ ने अज्ञानपूर्वक मारा था, यदि उन्होंने ज्ञानपूर्वक उस मुनि को वध किया होता, तो तत्काल उन्हें 'ब्रह्महत्या' का पाप लगता[2]। इसका मतलब यह हुआ कि ज्ञानपूर्वक शूद्रा के गर्भजात वैश्यपुत्र तपस्वी का बध करने पर भी दशरथ को ब्रह्महत्या का पाप लगता। इस तपस्वी पुत्र के शास्त्राध्ययन को सुनकर माता-पिता ब्राह्म मुहूर्त में आनन्दित होते, यह तापसकुमार स्नान करके, अग्नि में आहुति देकर माता-पिता की सेवा में नियुक्त रहते थे। अगर इन्हें ज्ञानपूर्वक मारा गया होता, तो क्षत्रिय को जरूर ब्रह्महत्या लगती।

अब सवाल यह होता है कि उत्तरकाण्ड के ७६वें अध्याय में जो दशरथ के पुत्र मर्यादा पुरुषोत्तम राम के शूद्रतपस्वी के शिरश्छेद की कहानी दी हुई है, वह क्या सही है? कथा है (७३ अध्याय) कि किसी ब्राह्मण का पुत्र अकाल में ही मर गया। राज-व्यवस्था की गलती ही इसका कारण समझी गयी। प्रतीकार के लिए राम बाहर निकले। दण्डकारण्य में शंबूक नामक तपस्वी को तप करते देख उसका सिर काट लिया और देवताओं ने साधुवाद और पुष्पवृष्टि की। उत्तरकाण्ड की

[1] सतधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति।
ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि॥ (वही ६४।२४)

[2] अज्ञानात्तु हतो यस्मात् क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप॥ (६४।५५)

अनेक कथाओं को पंडित-जन प्रक्षिप्त मानते हैं। मैं स्वयं ऐसा नहीं कहना चाहता। मैं कहता हूँ कि इस हिसाब से तो अन्य मुनिपुत्र भी 'तपोधन ब्रह्मवादी' होने के उपयुक्त पात्र नहीं थे। उस तापस कुमार के बध की कहानी के साथ शंबूक के बध की कहानी मिलाकर देखने से क्या जान पड़ता है? यह स्मरण किया जा सकता है कि तुलसीदासजी ने अपनी रामायण में उत्तरकाण्ड की इन घटनाओं को छोड़ दिया है।

मार्कण्डेयपुराण में एक शूद्र तापस की कथा पायी जाती है। जब राजा वपुष्मान् ने तपस्वी नरिष्यन्त को मार डाला तब नरिष्यन्त की पत्नी ने उस 'शूद्रतापस' से अपने पुत्र दम के पास यह खबर भिजवाई। दम ने यह संवाद सुनकर अपने मंत्री और पुरोहितों को बुलाकर कहा कि आपने यह बात सुनी; जो इस 'शूद्र तपस्वी' ने कही है—"श्रुतं भवद्भिर्यत्प्रोक्तं तेन शूद्रतपस्विना।" (१३६।३) इस शूद्र तपस्वी के तप से पृथ्वी का रसातल चले जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता, और न इस तपस्वी के इस अपकर्म के लिए किसी ने प्राणदण्ड की सजा देने की ही जरूरत समझी।

स्कंदपुराण के आवन्त्यखण्ड (रेवा खण्ड) में एक भक्त शबर की कथा पायी जाती है (५६।५६)। यह सस्त्रीक शबक आहार की खोज में चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन शूलभेद तीर्थ में आ उपस्थित हुआ। उसने ऋषि-मुनि-संघ को देखा (५६।६७-६८)। यह जानकर कि उस दिन पुण्याह है वह देवशिला के पास गया और कुमुद से जनार्दन की पूजा की (५६-८२)। उपवास व्रत करके उस शबर भक्त ने श्रीफल लेकर यथाविधि होम करके समस्त देवताओं को नमस्कार करके स्त्री सहित भोजन किया[1]। यहाँ भी उस ऋषि-मुनि संघ सेवित आश्रम में

[1] गृहीत्वा श्रीफलं शीघ्रं होमं कृत्वा यथाविधि।
सर्वं देवान्नमस्कृत्य भुक्तोऽपि च तया सह॥
(वही, ५६।१३३।१३४)

शबर के द्वारा विष्णुपूजा और होम अनुष्ठित करने में कोई बाधा पड़ती नहीं दिखती।

पुराणों में नाना स्थानों पर शूद्र और अन्त्यजों की तपस्या की कथा पायी जाती है। विशेष कर शिवरात्रि आदि व्रत तो व्याध आदि जातियों से ही आर्य संस्कृति में गृहीत हुए हैं। हीनवर्ण के आदमियों की इस तरह पूजा और तपस्या के तो बहुत प्रमाण मिलते हैं, किन्तु उत्तरकाण्ड के ब्राह्मण की भाँति बच्चे की अकाल मृत्यु का अभियोग कहीं नहीं सुनाई देता और न कहीं राम जैसे शिरश्छेदकारी धर्मरक्षक का ही पता मिलता है! खैर, ये सब तो साधारण तपस्या और पूजा की बात हुई। ऐसे भी दृष्टान्त पाये जाते हैं, जहाँ ऐसे लोग यागयज्ञ के पुरोहित नियुक्त हुए थे, जो ब्राह्मणेत्तर कुल की माताओं से उत्पन्न हुए थे। आगे लाट्यायन श्रौतसूत्र और द्राह्यायण श्रौतसूत्र के प्रमाण से यह बात दिखाई जा रही है।

शांखायन गृह्यसूत्र में बताया गया है कि माता में यदि अपतिव्रता दोष हो तो उस दोष को क्षालन करने के लिए मंत्र पाठ करना होता है। ये मंत्रपाठक लोग समाज के ब्राह्मण और यज्ञ के होता होते थे। आपस्तंब श्रौतसूत्र में (१।९।९), आपस्तंब मंत्रपाठ में (२।१९।१) और हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र में (२।१०।७) भी यही बात है। स्वयं मनु (९।२०) ने भी इस मन्त्र का उल्लेख किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्राह्मण या पुरोहित होने के लिये जन्म से विशुद्ध होना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। इसीलिये काठकसंहिता में ब्राह्मण के पिता-माता की बात पूछना निषिद्ध है। अन्य धर्म ग्रंथों में भी दैव कर्म में ब्राह्मण-परीक्षा निषिद्ध है (शंखसंहिता १३।१)।

लाट्यायनीय श्रौत सूत्र में दशपेय याग के प्रकरण में (९ म प्रपाठक, २य कंडिका ४-७) यह विधि है कि दस पुरोहित सोमचमस पान करने के पूर्व अपने पिता पितामहादि क्रम से दस पीढ़ी तक के और माता पितामही आदि क्रम से दस पीढ़ी तक के नाम उच्चारण करेंगे। माता

पितामही आदि में यदि किसी ऐसी का नाम आ जाय, जो ब्राह्मण-कन्या नहीं थी, तो उसे छोड़कर ब्राह्मण कन्याओं के नाम से ही दस की संख्या पूरी करनी चाहिए और यदि नाम याद न हों तो जहाँ तक से याद हों वहीं से याद किये जाँय[1]।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र में भी इस यज्ञ की यही विधि है। इन बातों से स्पष्ट है कि अब्राह्मणी की सन्तति ब्राह्मण ही होते थे और उनका पौरोहित्य भी वैध ही था। इसीलिये लाट्यायन और द्राह्यायण के युग में असवर्ण विवाह, जो अच्छी तरह प्रचलित था, इसमें सन्देह नहीं रहता[2]।

---

[1] ते दश मातृदश पितृन् इत्यन्वाख्याय प्रमर्पेयुः पुरादशमात्पुरुषादित्याह ॥५॥
यत्र अब्राह्मणीमधिगच्छेयुब्रह्मण्योवाभ्यासं दशमं पूरयेयुः ॥६॥
अस्मरतश्च यतः स्मरेयुः ॥७॥

[2] पंडित शाम शास्त्री Evolution of Castes (पृ० ४)

१०. वर्ण-विशुद्धि का वैज्ञानिक विचार

एक समय जाति शायद वर्ण या रंग द्वारा ही स्थापित हुई होगी। परन्तु इतने दिनों तक नाना जातियों का एक साथ वास करने के फल-स्वरूप वर्ण की विशुद्धि कहाँ तक टिकी रह सकती है? जिस मनोवृत्ति में संयम पर जाति या वर्ण की विशुद्धता निर्भर करती है, वह कितनी उद्दाम है और उसके सामने आदमी कितना निरुपाय है इसका प्रमाण आज की अवस्था से और शास्त्र पुराणादि की कथाओं से चल जाता है। शास्त्रों और पुराणों में देवताओं और ऋषि मुनियों के चरित्र में भी उस दोष का प्रवेश कुछ कम मात्रा में नहीं है। आज की जाति जो वर्ण (रंग) के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है इसका सबूत—'करिया ब्राह्मन गोर चमार' आदि प्रचलित लोकोक्तियाँ हैं।

भारतीय मनुष्य गणना की रिपोर्ट से जान पड़ता है कि ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सभी जातियों के चेहरे प्रदेश-भेद से भिन्न-भिन्न तरह के हैं। द्रविड़-बहुल देश में वह द्रविड़-मुखाकृति से मिलते हैं, मंगोल-बहुल प्रदेशों में मंगोल चेहरों से और शक-बहुल प्रदेशों में शक आकृतियों से[1]।

उत्तर प्रदेश और बिहार के ब्राह्मणों के साथ बंगाल के ब्राह्मणों के चेहरे मे बहुत कम समानता है। बल्कि महाराष्ट्र चित्पावन और शेनवी ब्राह्मणों के साथ बंगाल के ब्राह्मणों की समानता है। यह द्राविड़त्व का साक्षी है। बंगाली विवाह में शंख की चूड़ियों का व्यवहार भी इसी बात का

[1] Cens. of India, 1921, Vol .I. P. 489

साक्षी है[1]। बंगाल के चाण्डाल और ब्राह्मणों के चेहरे में जो समानता है, उतनी भी बंगाल के ब्राह्मणों और उत्तर प्रदेश के ब्राह्मणों के चेहरों में नहीं है (वही)। श्री रिज़ली और डाक्टर वाइज़ की बात उद्धृत करके कैम्पवेल साहब कहते हैं कि बंगाल के चमारों की मुखाकृति इस प्रदेश के ब्राह्मणों की मुखाकृति की अपेक्षा अधिक आर्यसादृश्य लिये हुए है[२]। गणित की भाषा में कहें, तो बंगाल के ब्राह्मण और चाण्डाल का अन्तर १.११ है और बंगाल के ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण का अन्तर ३.८६ है[3]।

ललाट और नाक के परिमाण से जाति निर्णय करने की जो वैज्ञानिक प्रणाली है उसमें यदि विचार किया जाय, तो इस देश में विशुद्ध आर्य का मिलना ही कठिन है[४]। यह जरूर है कि यह माप का प्रमाण अन्तिम और अचूक प्रमाण नहीं भी हो सकता।

यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि पुराने जमाने में एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना सदा होता रहता था। आज के समाज में यद्यपि वैसी प्राणशक्ति नहीं है, तथापि पूर्वी बंगाल में आज भी अनेक तथाकथित निम्नवर्ण के लोग अर्थ और प्रतिपत्ति की वृद्धि के साथ ही साथ 'भद्र' कही जानेवाली श्रेणी में मिल जाते हैं[५]। भारत में सर्वत्र ही देखा जाता है कि किसी हीन वर्ण के आदमी राजा होते ही क्षत्रियत्व का दावा करते हैं। नाना कारणों से ब्राह्मण लोग भी इस दावे को मंजूर कर लेते हैं। कभी-कभी अर्थ-लोभ से और कभी-कभी—जैसा शिवाजी आदि वीरों के उदाहरण स्पष्ट है—राजनीति-गत उच्चतर आदर्श के कारण यह समर्थन प्राप्त होता है।

---

[१] Ghurye, PP. 120-121
[२] Jnl. Ethnology. Vol. II. PP. 293, 271
[3] Ghurye, P. 11
[४] Cens. Ind, Vol. I. P. 500
[५] Cens. Ind. Vol, V, I, P. 351

कोच, तिपरा, गारो हाजं प्रभृति उत्तर और पूर्वी बङ्गाल की बहुतेरी जातियाँ ज़माने से इस देश में 'जल-अनाचरणीय' थीं; अर्थात् इनके हाथ का जल नहीं ग्रहण किया जाता है। इस समय इन जातियों के लोग अपने क्षत्रियत्व का दावा करते हैं। संख्या और प्रभाव के बल पर तथा आज-कल की शिक्षा-दीक्षा के गुण से इस समय बहुत जगह उनका दावा मान लिया गया है (वही पृ० ४२०)।

प्रायः देखा जाता है कि भारत की प्राचीन आर्य भूमि से जो प्रदेश जितनी ही दूर हैं, उनमें आर्य रक्त उतना ही कम है और उतना ही नाना आर्येतर रक्त से उसका सम्मिश्रण हुआ है (वही पृ० ३६३)। फिर भी इन्हीं दूरस्थ प्रदेशों में धार्मिक कट्टरता और सामाजिक संकीर्णता अधिक है।

मणिपुरी, कोच, गारो, डलू, हाजं आदि जाति के लोग क्षत्रियत्व के दावे के साथ ही साथ अपने में बहुत कुछ परिवर्तन भी करने में समर्थ हुए हैं (वही पृ० ३४८)। निचले असम के 'कछारी' लोग ब्राह्मण गुरु की शरण में जाने पर 'शरणीया' नाम धारण करते हैं। फिर या तो 'छोटे कोच' या 'बड़े कोच' होकर बाद में कोच लोगों में मिल जाते हैं। कोच होते ही राजवंशी नाम लेकर उन्हें क्षत्रियत्व का दावा उपस्थित करना आसान हो जाता है।

मणिपुरी आदि जातियों की बातें तथा उच्चतर जातियों में अनेक जातियों के बदलने की बात इसी ग्रन्थ में अन्यत्र लिखी गई है। इन सब आर्येतर जातियों में से अनेकों में पहले विधवा-विवाह, स्त्री-स्वाधीनता, वन्य बराह की मृगया आदि प्रचलित था। बड़ी उमर में लड़के-लड़कियाँ स्वयं अपना जोड़ा स्थिर करके विवाह करती थीं। अब वे आर्य होने के नशे में विधवा-विवाह को छोड़ रहे हैं और और बाल-विवाह की चलन जोरों से बढ़ा रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप उनमें भी नैतिक

[1] Cens. Report, 1931, Vol, III, Part 1, P. 221

अधोगति दिखाई दे रही है। मृगया और मांसाहारादि त्याग करने से शारीरिक बलवीर्य भी क्रमशः ह्रास होते जा रहे हैं। परदा प्रथा नये सिरे से उनमें घुस रही है और स्त्री-शिक्षा के मार्ग में बाधा खड़ी हो रही है[1]। उच्च होने का एक और आवश्यक गुण है, दूसरी जातियों को घृणा करना और छुआ-छूत का मानना। यह बात भी उच्चतर वर्णत्व के दावे के साथ इनमें आ रही है (वही पृ० ५२६)। उच्च होने की दुराशा मामूली बात थोड़े ही है!

[1] Cens. Report I. PP. 162. 233

११. स्पृश्यास्पृश्य विचार

जाति और कुल की विशुद्धि-रक्षा के लिए अन्य के संस्पर्श से अपने को बचाना पड़ता है। पर ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रकार का प्रयत्न आर्यों ने ही प्रवर्तित नहीं किया। द्रविड़ और द्रविड़-पूर्व जातियाँ भी अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताएं इन्हीं नियमों से सुरक्षित रख सकी थीं। आर्यों ने यह बात उन्हीं से सीखी होगी। आज भी स्पर्शास्पर्श का विचार प्राचीन आर्यभूमि की अपेक्षा आर्येतर प्रधान प्रदेशों की जातियों में ही अधिक तीव्र और कठोर है।

दक्षिण में नायर जाति से तियाँ जाति वाले बारह पग दूर रहने को बाध्य हैं। पुलयन जाति के लोग तो नजदीक भी नहीं आ सकते। शूद्र के घर की चौहद्दी में स्थित जलाशय में ब्राह्मण का स्नानादि नहीं चल सकता[1]। इलावन या शानारगण २४ पग दूर रहने को मजबूर हैं। पुलयन के स्पर्श से ब्राह्मण को सचेल स्नान करना पड़ता है (वही)। घुरे ने अपने ग्रन्थ में इस विषय की अनेक बातें इकट्ठी की हैं (पृ० ६-१४)।

निम्नतर जातियों में यह भेद इतना उग्र है कि कह कर समझाया नहीं जा सकता। पुलयन जाति के किसी आदमी को यदि कोई पारिया छू दे, तो पुलयन पांच बार स्नान करके और उंगली से रक्त निकाल देने के बाद जाकर शुद्ध होता है। कुरिच्चन जाति यदि किसी अन्य नीच जाति से छू जाय तो उसकी शुद्धि की व्यवस्था और भी भयंकर है। सर्वत्र यही देखा जाता है कि ऊँची जातियों की अपेक्षा नीची जातियों में इसकी तीव्रता कहीं अधिक कठोर है।

दक्षिण भारत में उल्लादन जाति यदि ४० हाथ के भीतर आ जाय

[1] Wilson's Indian Castes Vol. II P. 74

तो शूद्र भी दूषित हो जाता है, ब्राह्मणादि की तो बात ही क्या है[१]। नायादि जाति का आदमी दो सौ हाथ की दूरी पर आ जाय तो सभी अपवित्र हो जाते हैं[२]। उन्हें कुछ भिक्षा देनी हो तो दूर जमीन पर रख कर वहाँ से दाता हट जाता है। फिर डरते-डरते वे आकर भिक्षा उठा ले जाते हैं[३]।

जिस प्रकार ब्राह्मणों के लिए पारिया अस्पृश्य हैं, ठीक उसी प्रकार पारिया के लिए ब्राह्मण भी अस्पृश्य हैं। पारिया या होलेया जाति के मुहल्ले से जानेवाले ब्राह्मण को मार खानी पड़ती है, पहले तो कभी-कभी प्राण भी देने पड़ते थे। इसके बाद ब्राह्मण के वहाँ से हट जाने पर ये (पारिया) लोग गोबर से अपने गाँव और मुहल्ले की शुद्धि किया करते हैं[४]।

कभी-कभी आपस के इस द्वेष का हेतु बड़ा मजेदार होता है। मद्रास प्रान्त में कापू जाति की संख्या सबसे अधिक है। कहते हैं कि इनके पूर्व पुरुषों ने पांडवों की जार-कन्या से विवाह किया था। इनकी कोई-कोई शाखा नर्तकी की सन्तान है[५]। इनमें स्त्रियों की ही प्रधानता है और किसी-किसी शाखा में विधवा-विवाह भी चलता है[६]।

कापुओं की 'येर्लम' शाखा अत्यन्त ब्राह्मण-विद्वेषी है। कारण यह बताया जाता है कि कोई दरिद्र ब्राह्मण अपनी कन्या का विवाह यथा-समय अर्थाभाव के कारण नहीं कर सका और कन्या को कुमारी छोड़ कर ही चल बसा। अन्य ब्राह्मणों ने उस असहाया कन्या को जातिच्युत किया। कन्या निश्चय ही निर्दोष थी और उसे दण्ड भी बिना दोष के ही

---

[१] Thurston. VII P. 220.
[२] वही Vol. V, P. 275.
[३] वही, P. 274
[४] वही, VI, P. 88.
[५] वही, II P. 245, P. 247.
[६] वही

दिया गया था। एक कापू ने विपद्ग्रस्त कन्या को अपने घर में स्थान दिया। उसी से उत्पन्न सन्तान 'येरलम' हैं। ये कहते हैं कि ब्राह्मणों के दिमाग़ तो होता है किन्तु हृदय नहीं होता, नहीं तो निर्दोष कन्या को जातिच्युत क्यों करते? न तो ये ब्राह्मण का छुआ कोई अन्न ही ग्रहण करते हैं और न अपने किसी अनुष्ठान में उन्हें बुलाते ही हैं। विवाह में हवन नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने पर ब्राह्मणों को बुलाना आवश्यक हो जाता। वृद्धा पुरंध्रियां आचारादि करके विवाह करा देती हैं[1]।

बंगाल के 'काले पहाड़' के ब्राह्मण-विद्वेष के मूल में भी कुछ ऐसे ही हेतु थे। पंजाब के 'काले मिहिर' की कहानी भी बहुत कुछ ऐसी ही है। ब्राह्मणों ने उसके प्रति अन्याय किया था, उसे वह मृत्यु तक भूल नहीं सका और बराबर बदला लेता रहा। इसका पुराना नाम जयमल था। उसकी कब्र के पास ब्राह्मण नहीं जा सकते[2]।

होलेय अत्यन्त नीच मानी जानेवाली जाति है। ब्राह्मण के स्पर्श से उनका गृह एकदम अपवित्र हो जाता है[3]। इनके गाँव में प्रवेश करने पर ये लोग ब्राह्मणों को कुछ दिन पहले तक मार डालते थे। उड़ीसा के कुम्भीपटीया जाति के आदमी सबका छुआ खा सकते हैं किन्तु ब्राह्मण, राजा, नाई और धोबी उनके लिए अस्पृश्य हैं। दूसरी भी ऐसी अनेक नीच समझी जाने वाली जातियाँ हैं, जिनके लिए ब्राह्मण का स्पर्श किया हुआ अन्न अशुचि है।

अब विचार करके देखा जाय कि यह भेद-बुद्धि या वर्जनशीलता क्या आर्यों ने इस देश में परिचित कराया होगा? अन्यान्य देशों में भी तो आर्यों की नाना शाखाएं हैं, उनमें यह भेद-बुद्धि क्या वर्तमान है? यदि है, तो उसकी उग्रता कहाँ तक है? जिस प्रदेश में शुरू-शुरू में आर्य

[1] Thurston III P. 229
[2] Gloss. Punjab and N.W.P. Vol. III P. 425
[3] Mysore. III P. 344

लोग आये उस पंजाब में यह भेद-बुद्धि अधिक है या दूरतम दक्षिणात्यादि प्रदेशों में। आर्य लोगों के प्रथम आगमन-युग अर्थात् ऋग्वेद के काल में यह भेद-बुद्धि अधिक थी या क्रमशः बाद में बढ़ती गई है ?

असल में आर्यों के इस देश में आने के समय उनमें जातिभेद या तो था ही नहीं या था भी तो बहुत मामूली रूप में। तीव्रता धीरे-धीरे बढ़ी है। अथवा प्राचीन आर्यभूमि में यदि जातिभेद कम उग्र हो तो भी यह सन्देह हो सकता है कि यह प्रथा आर्यों की ले आई हुई नहीं है। इन्होंने इसे यहाँ आकर स्वीकार किया है।

प्राचीन ग्रीस, रोम और जर्मनी के आर्यों में कौलीन्याभिमान तो था पर जातिभेद जैसी कोई चीज़ नहीं थी। ईरान के अग्नि-उपासकों में भी ठीक इसी प्रकार का जातिभेद नहीं है; पार्सी लोग उसे नहीं मानते।

दक्षिण में नीच जाति यदि ब्राह्मण मुहल्ले में आ जाय या ब्राह्मण यदि नीच जाति के मुहल्ले में चला जाय, तो खून-खच्चर की नौबत आ जाती है। नायर स्त्रियों के साथ नम्बूद्री ब्राह्मणों का संबंध तो होता है; पर नायर के छूने से ब्राह्मण को अपवित्र होना पड़ता है ! काम्मालन (बढ़ई, लुहार आदि) १६ हाथ, ताड़ी बनाने वाला २४ हाथ, पालय या चेरुमा कृषक ३२ हाथ और पारिया ४० हाथ के भीतर आ जाय, तो ब्राह्मणादि ऊँची जाति के लोग अपवित्र होते हैं। ब्राह्मण वगैरः ऊँची जातियों के जलाशय के पास से भी यदि कोई नीच जाति चला जाय तो जलाशय व्यवहार के अयोग्य हो जाता है। रामानुजी वैष्णवों का अन्न और पाक-क्रिया किसी के देखने से भी अशुद्ध हो जाती है।

पंजाब आदि आर्य-प्रधान प्रदेशों में ऐसी तीव्रता नहीं है। दाक्षिणात्य में जहाँ अनार्य जातियों की ही प्रधानता है, यह भेद तीव्र है। आजकल आधुनिक शिक्षा और विचारगत उदारता के कारण उच्च जाति के अनेक युवक इस भेद-भाव को तोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं; पर नीची समझी जाने वाली जातियाँ अपने भेद-भाव को शिथिल नहीं करना चाहतीं। कभी-कभी देखा गया है कि ऊँची जाति के लड़के जब उत्साहवश नीची

जाति के आदमी के हाथ का भात ग्रहण कर लेते हैं, तो वह भात देने वाला ही उसके हाथ का छुआ अन्न-जल नहीं ग्रहण करता ! कहता है—'तुमने जब हमारे हाथ का भात खाया है तो और नीच जातियों का भी जरूर खाया होगा । इसलिये तुम्हारे हाथ का अन्न हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं' !!

अस्पृश्यता निवारण का वर्तमान आन्दोलन शुरू होने के बहुत पहले से शान्ति-निकेतन आश्रम में स्पर्शास्पर्श विचार नहीं माना जाता था । सन् १९०८ में मैंने देखा कि नौकरों में से अधिकांश हाड़ी, डोम आदि श्रेणी के हैं । कुछ थोड़े ही लोग उनसे छूत मानते थे । अधिकांश आश्रम-वासी उनके हाथ का अन्न-जल निःसंकोच ग्रहण करते थे और अब भी करते हैं । आठ-दस वर्ष पहले की बात है । एक दिन एक क्रिया के उपलक्ष में मेरे घर कई गरीब मोचियों ने भात माँगा । उन दिनों बड़ा अकाल पड़ा हुआ था । मैंने देखा कि यद्यपि हम लोगों ने उन मोचियों को खिलाने की आज्ञा दी थी तथापि मेरे ही हाड़ी, डोम आदि नौकर उन्हें घर में घुसने देना नहीं चाहते थे । परन्तु हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मेरे हाड़ी, डोम जातीय भृत्यों ने यह कह कर कि रंधनशाला का सब अन्न अपवित्र हो गया है, उस दिन कुछ नहीं खाया !

इन सारी बातों पर विचार करने से जान पड़ता है कि यह प्रथा आर्यों की लाई हुई नहीं है । यहाँ आकर उन्होंने अनार्यों के भीतर यह भयंकर भेद-विभेद प्रचलित देखा और उसके प्रभाव को वे भी अतिक्रम नहीं कर सके ? खूब संभव है बहुत दिनों तक उन्होंने इसे अस्वीकार करने की चेष्टा भी की थी, पर बाद में बहुसंख्यकों के सामने उन्हें हार माननी पड़ी थी । आज यह प्रथा उनके मन में इस प्रकार घर कर बैठी है कि इसे ही उन्होंने अपनी वर्ण-श्रेष्ठता का प्रधान लक्षण मान लिया है । वे यह बात भूल जाते हैं कि जिन महर्षियों के नाम पर उनकी कुल-मर्यादा और वंश-प्रतिष्ठा अवलंबित है वे स्वयं छुआछूत का ऐसा विचार नहीं करते थे ।

इस देश में आर्यों के आने के बाद ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है, जातिभेद त्यों-त्यों तीव्र होता गया है। आर्यों के मूल स्थान से जितनी ही दूर वे हटते गये हैं, यह भेद-भाव भी उनके मन में उतना ही उग्र होता गया है[1]।

जातिभेद का सर्वप्रधान अवलम्बन स्मृति है। इनमें भी प्रधान स्थान मनुस्मृति का है। मनुस्मृतिकार वेद-काल के अनेक बाद प्रादुर्भूत

[1]यह विचित्र बात है कि ऊँच नीच के भेद मिटाने के प्रयत्न में तत्तत् प्रदेश के मुसलमानों की ओर से भी बहुत विरोध होता है। ऐसा प्रायः देखा गया है कि यदि नाई नमःशूद्र (बङ्गाल की एक अन्त्यज समझी जानेवाली वीर जाति) की हजामत बनाने गया है या मोची डोम आदि ने उसकी पाल्की उठाई है, या नमःशूद्र जूता पहनकर रास्ते से निकला है, तो बङ्गाल के गाँव के मुसलमान लाठी लेकर उन पर टूट पड़े हैं! राजा राममोहन राय के प्रायः समकालीन ब्राह्मणवंशीय महात्मा ढेढ़राज को झाझर के नवाब ने आठ वर्ष तक जेल में केवल इसलिये सड़ाया था कि उन्होंने हिन्दुओं में से जातिभेद की प्रथा उठा देनी चाही थी। अंग्रेजों की जीत होने पर जब नवाब भाग खड़े हुए, तब जेल का फाटक उन्होंने खुलवा दिया और ढेढ़राज की मुक्ति हुई। पर यह कह कर धमका देने की बात वे (नवाब) उस समय भी नहीं भूल सके कि फिर ऐसा अनाचार मत करना! आज से कुछ साल पहले मैं ढाका जिले के एक नमःशूद्र विद्यालय को देखने गया। वहाँ गाँव के एक बूढ़े मुसलमान सज्जन ने बड़ी सरलता के साथ कहा कि मैं नहीं समझता कि आप जैसे भले आदमी इन चाण्डालों को पढ़ाने की बात का कैसे समर्थन करते हैं। ये रहेंगे तो हर हालत में चाण्डाल ही न?' ऐसे सरल लोगों के सिवा एक तरह के आधुनिक शिक्षित मुसलमान भी किसी गूढ़ राजनीतिक उद्देश्य से इस आन्दोलन का विरोध करते हैं। उनकी धारणा है कि हिन्दुओं में भेदभाव रहने से ही उनकी जाति का कल्याण है!

हुए थे। आचार्य केलकर उन्हें मगधवासी समझते हैं[1]! इस स्मृतिकार का देश चाहे जहाँ कहीं भी रहा हो, काल-निश्चय ही बहुत बाद का है क्योंकि उनके विधि-निषेध में आर्यों की जो रीति-नीति दी हुई है, वह अनेक परवर्ती युग की हैं।

आरम्भ में छुआछूत और रोटी-बेटी का विचार आज जैसा कठोर नहीं था यह बात प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। ये विचार धीरे-धीरे शताब्दियों बाद तीव्र हुए हैं।

पण्डित प्रवर श्री अनन्त कृष्ण आयार महोदय ने अपने ग्रंथ[2] में दिखाया है कि किस प्रकार इस देश में जातिभेद की प्रथा आविर्भूत हुई और किस प्रकार धीरे-धीरे बद्धमूल हुई। उन्होंने वैदिक और बौद्ध युग की जातिभेद की अवस्था वर्णन करने के बाद वैश्यों की सामाजिक दुर्गति पर विचार किया है। इसके बाद परवर्ती काल की आलोचना करके वे लिखते हैं—"वैदिक युग में जातिभेद भ्रूणावस्था में था। ब्राह्मण और पुराण युग में उसकी उत्पत्ति हुई। धीरे-धीरे इस जातिभेद का प्रसार और प्रभाव बढ़ता गया। चारों ओर की परिपार्श्विक अवस्थाओं के योग से यह प्राकृतिक नियमानुसार सहज भाव से धीरे-धीरे बद्धमूल हुआ और आज भी यह धीरे-धीरे और भी दृढ़ भाव से स्थापित होता जा रहा है[3]।

---

[1] उनकी युक्तियों के लिए दे० History of Castes in India, P. 66

[2] Mysore Tribes and Castes Vol I. PP. 128-159.

[3] वही पृ० १५४-१५५

१२. जीवजन्तु और वृक्षलतादि के नाम से आत्मपरिचय

आर्यों की पूर्ववर्ती अनेक जातियाँ अपना परिचय किसी जीव-जन्तु से या वृक्षलता आदि के नाम से दिया करती थीं। नाग और सुपर्णों के नाम से यह बात आगे अधिक खुलासा होगी! नाना देशों में अति प्राचीन काल से एक विशेष चिह्न या लाञ्छन से परिचय देने का रिवाज दिखाई देता है। यह चिह्न साधारणतः या तो किसी जीव-जन्तु के होते हैं या वृक्षलता और पुष्पों के जो वस्तु लाञ्छन या चिह्न रूप में व्यवहृत होती है, वह वस्तु उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति के श्रद्धा और सम्मान की चीज होती है। अंग्रेजी में इसे 'टोटेम' कहते हैं। लड़कपन में रामायण में बानरों और भालुओं को मनुष्योचित व्यवहार करते देख बड़ा कुतूहल होता था, बड़ा होने पर मालूम हुआ कि आज भी अपने को बानर और भालुओं के वंशधर कहनेवाले लोग इस देश में हैं। बाद में चल कर मालूम हुआ कि यह सब टोटम का ही व्यापार है।

ऋग्वेद में तृत्सुओं ने सुदाम के अधीन युद्ध करके भेद नामक योद्धा को हराया था। इनके दल में योद्धाओं की कई जातियों का उल्लेख देखा जाता है, एक जाति का नाम था अज—अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च[1] अज का अर्थ सभी को मालूम है; (बकरा)। शिग्रु भी खूब सम्भव कोई टोटेम ही रहा होगा। क्योंकि आयुर्वेदीय निघण्टु[2] के अनुसार शिग्रु 'सहिजन' नामक वृक्ष को कहते हैं। इसी सूक्त में मत्स्य (मछली) नामक जाति की चर्चा है (७।१८।६) और शतपथ ब्राह्मण में भी मत्स्यों के राजा का उल्लेख है (१३।४।३।६)। कौशितकि उपनिषद् में

[1] ऋग्वेद ७।१८-१९

[2] देवेन्द्रनाथ उपेन्द्रनाथ सेन, १३२७, पृ० १७२

गार्ग्यवलादि के 'मत्स्यों' के देश में वास करने की कथा है (४।१)। गोपथ ब्राह्मण, महाभारत तथा पुराणों आदि में भी इनकी चर्चा है। किसी-किसी ने कहा है कि मैकडोनल साहब ने कौशिक, गोतम, मांडूकेय आदि शब्दों से 'टोटेम' की प्रथा सिद्ध करनी चाही है, वह अच्छी तरह प्रमाणित नहीं हुई[१]। पञ्चविंश ब्राह्मण में पारावत जाति की बात है, पर किसी-किसी ने कहा है कि उसका अर्थ पर्वतवासी है।

अनेक आर्य और अनार्य श्रेणियों के आदि पुरुष कश्यप हैं। बङ्गाल में कहावत है कि जिसका गोत्र खो जाय वह 'कश्यप' हो जाता है। कश्यप शब्द का अर्थ है कछुआ। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्रह्मा प्रजापति ने कूर्म रूप धारण किया। कूर्म और कश्यप वस्तुतः एक ही चीज़ हैं। इसीलिये यदि कोई भी व्यक्ति कूर्म या कश्यप को आदि पुरुष कहता है, तो गलती नहीं करता। क्या कुर्मी जाति का कोई सम्बन्ध इस कूर्म से है?

रिजली साहब ने अपने (People of India) नामक विशाल ग्रन्थ में टोटेम के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें लिखी हैं (पृ० ९३-१०२) उन्होंने दिखाया है कि आज भी कितनी ही जातियाँ अपना परिचय वृक्ष-लता और जीव जन्तुओं के नाम पर देती हैं। जिस जाति का जिस वस्तु से परिचय है अर्थात् जो जिसका टोटेम है, वह जाति उस वस्तु को कभी आघात या असम्मान नहीं करती और न साधारण व्यवहार में उसका प्रयोग करती है; अर्थात् टोटेम के प्रति एक तरह से पूज्य और उपास्य भाव सभी रखते हैं।

आज भी भारत में अपने को हनुमान् और जम्बवान् के वंशधर कहने वाले हैं। काठियावाड़ के पोरबन्दर या सुदामापुरी के राजा लोग हनुमान् के वंशज हैं। उनकी पताका पर हनुमान् का चित्र अंकित होता है। ध्रांगध्रा प्रभृति राज्यों में भी इन्हीं के भाई बन्धुओं का राज्य है।

---

[१] Vedic Mytholgy P. 153

जीव-जन्तुओं के नाम से आत्मपरिचय देने की कथा नाना पुराणों में नाना भाव से आयी है। सभी पुराणों से इस विषय के इतने प्रमाण एकत्र किये जा सकते हैं कि सबको स्थान देने के लिए इस छोटी पुस्तक में जगह की कमी पड़ जायगी। इसलिये यहाँ महाभारत में आये हुए नामों की थोड़ी-सी चर्चा की जा रही है।

उलूक नामक एक दल के लोगों को अर्जुन ने उत्तर देश जय करते समय हराया था। उलूक अर्थात् उल्लू (सभापर्व २७।५)। नागों के शत्रु जैसे सुपर्ण (=गरुड़) थे उसी प्रकार उलूक काकों के शत्रु थे। इसलिये इन्हें काकवैरी कहा गया है (लिंगपुराण, उत्तर, ३।६४-७५)। इन काक जाति के योद्धाओं की कथा भी भीष्मपर्व (९।६४) में दी हुई है। नाग-विशेष का नाम ही कर्कोटक है। बेल, ईख आदि कई पेड़ पौधों का नाम भी कर्कोटक है। वाहिकों के प्रसग में कर्णपर्व (४४।४२) में कर्कोटक जाति का उल्लेख है। यादवों की एक शाखा का नाम कुक्कुर (=कुत्ता) है (सभा १९।२८)। इनकी चर्चा सब समय अन्धकों के साथ है (वन० १८३।३२)। हरिवंश के अड़तीसवें अध्याय का नाम ही 'कुकुर-वंश-वर्णन' है। एक शृगाल राजा के साथ भी श्रीकृष्ण की लड़ाई का हाल हरिवंश (१०० वाँ अध्याय) से मालूम होता है; वह भी क्या ऐसा ही कुछ है? सभापर्व में रासभ? (गधा) जाति का भी उल्लेख मिलता है (५१।२५)।

भीष्मपर्व में संजय धृतराष्ट्र से नाना नद-नदी और जानपदों का परिचय देते हैं (९म अ०)। वहाँ मनुष्यों में मत्स्य (४०), गोधा (=गोह), कुक्कुर (४२), महीषक (५९), मूषक (५९ और ६३) कौक्कुटक (६०), प्रोष्ठ (=बैल, ६०), पशु (६७), काक (६४), इत्यादि नाम हैं (नामों के आगे की संख्या श्लोकों की है)। भीष्म पर्व में (५०।५४) नाकुल राजाओं की बात भी है। महाभारत और पुराणों में बहुत जगह मातंग चाण्डालों की चर्चा है। मातंग हाथी को कहते हैं। भेड़ा और सूअर को रोमश कहते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में रोमश

जाति के वीर उपहार ले आये थे (सभा ५१।३०)। दुर्योधन के दल में वृक (=भेड़िया) जाति के योद्धा थे (भीष्म० ५१।१६)। ऊँट या फतिंगा इन अर्थों में शरभ शब्द का प्रयोग होता है। वसिष्ठ की कामधेनु से यवन, पौण्ड्र, किरातों की भाँति शरभ जाति के योद्धाओं का भी जन्म हुआ था (आदि पर्व १७५।३६)। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपहार देनेवालों में कौकुर (सभा० ५२।१५), कुकुर (वहीं १६) तार्क्ष्य (=गरुण, सुपर्ण १५) का नाम है। शूकर जाति के राजा ने सौ हाथी उपहार भेजे थे (वही २५)। इन स्थानों पर वृक्षलता और पशु-पक्षियों के नाम पर आदमियों का परिचय पाया जाता है।

जिस प्रकार तार्क्ष्य (गरुड़ पक्षी) से जाति का परिचय देना ऊपर दिखाया गया है, उसी प्रकार अन्यान्य पक्षियों के नाम पर भी जातियों का परिचय दिया था। द्रोणाचार्य के सैन्य व्यूह के पश्चाद् भाग की रक्षा का भार शकुन योद्धाओं के ऊपर था (द्रोणपर्व १६।११)। शान्तिपर्व (६५।१३) से जान पड़ता है कि 'कक' जाति के योद्धाओं ने भी युधिष्ठिर को उपहार भेजा था। अनुशासन पर्व में मद्गुरु जाति को नौकाजीवी जाति की चर्चा है (४८।११)। मद्गुरु एक पक्षी को भी कहते हैं और एक 'मागुर' नामक मछली को भी कहते हैं। मछलियों के नाम से परिचित अनेक जातियों का उल्लेख नाना पुराणों में हैं।

महाभारत में वक, कोक (भीष्म० ६।६१), सुमल्लिका (६।५५) आदि पक्षियों के नाम से परिचित मनुष्यों की है। सुमल्लिका एक प्रकार का राजहंस है और कोक चकवा को कहते हैं। हंसकायन (सभा० ५२।१४), हंसमार्ग (भीष्म० ६), हंस पथ (द्रोण० १६।७) जाति के आदमियों के नाम भी इनका या तो 'हंस' पक्षी से 'टोटेम' का सम्बन्ध था या फिर हिमालय के जिस पथ से हंस मानसरोवर को जाते हैं, ये वहीं के रहनेवाले थे। त्तित्तिर जाति के आदमियों का नाम भी भीष्मपर्व (५०।५१) में है।

भेड़ा को 'हुण्ड' कहते हैं। इस नाम के आदमी भी (भीष्म०

५०।५२) महाभारत में है और 'षन्ड' का नाम भी आने से नहीं रहा (६-४३)। शशक (वन० २५४।२१) और अश्वक (भीष्म० ६।४४) भी हैं। 'वत्स' के साथ भी क्या 'वत्स' का कोई सम्बन्ध है? ताद्यों की चर्चा तो ऊपर हो ही चुकी है; उरग (= सांप) भी है (अनुशासन ३३।२२)। झिल्ली या झींगुर के नाम पर झिल्लिक जाति का भी वर्णन जंबूखण्ड वर्णन (भीष्म० ६।५६) में हैं। यहाँ तक कि मशक नामक मानव जाति की भी खबर महाभारत से मिल जाती है (वहीं ११।३७)।

वृक्षों में पहले ताल को ही लिया जाय। इस वृक्ष के नाम पर तालचर (उद्योगपर्व १४०।२६) तालजंघ (वन० १०६।८) तालवन (सभापर्व ३१।७१) आदि जातियों का ताल से सम्बन्ध था। शाल्व जाति (सभा० १४।२६) के साथ शाल्व वृक्ष का योग है। खूब संभव करुष जाति के साथ (आदि० १२३।४०) करूषक फल का योग है। कीचक (सभा० ५२।२) के साथ क्या कीचक (बांस) का योग असंभव है? दार्व (भीष्म० ६।५४) के साथ दारु दार्व या दार्वी वृक्षों का योग हो सकता है। जागुड़ (= वन० ५१।२५) भी है, राम (=हींग) भी (सभा० ३२।१२) है। आजकल के काबुली पठानों के साथ क्या इसका सम्बन्ध है।

शिव और विष्णु के सहस्र नामों में न्यग्रोध नाम भी है। न्यग्रोध बरगद के पेड़ को कहते हैं। शायद शैवों और वैष्णव भागवतों में इस वृक्ष की पूजा प्रचलित थी। 'शिवियों' के साथ शायद शिवजी का सम्बन्ध है। शिव और गणपति का नाम अज है। अज नामक मनुष्यों की जाति का उल्लेख आगे ही किया गया है। दक्ष का नाम जो अजमुख पड़ा उससे क्या यही कथा बताई गई है कि जिनके मुख में देवता का नाम था उनके मुख में अब शिव का नाम आया, इस समय उनका उपास्य या देवता शिव होने से उनका नाम हुआ अजमुख या शिवमुख? यह स्मरण रखना चाहिए कि शिव के गणों में से एक का नाम अजपाद या अजएकपाद था। किरात जाति के साथ किरात वेशधारी शिव का भीतर ही भीतर सम्बन्ध होना असंभव नहीं है। गुह कार्तिकेय का नाम है और

शिव विष्णु के सहस्र नामों में से यह एक नाम भी है। इस जाति के आश्रमियों की चर्चा भी पायी जाती है। दक्षिणापथ में इनका जन्म हुआ था और इनका नाम पुलिन्द शबरादि के साथ लिया गया है (शान्ति० २०७।४२)। मतंग जाति के साथ मातंगी देवी का योग भी हो सकता है। गणेश का नाम हेरम्ब है। सभापर्व (३१।१३) में एक हेरम्बक जाति का नाम भी है। इस प्रकार नाना उपास्यों के नाम से भी नाना मानव-मण्डली का परिचय पाया जाता है। अथवा उन सब जातियों के नाम पर उनके उपास्य देवता प्रसिद्ध हुए हैं। जिस मानव-मंडली में जो देवता पूजित हुए हैं, उस मानव-मंडली का लांछन या टोटेम ही संभवतः उस देवता का वाहन है। षण्ड शिव के उपासक हैं और नाग भी हैं। सुपर्ण या गरुण विष्णु के उपासक हैं। कई जगह विशेष-विशेष देवता ही विशेष मानव-मण्डली के 'टोटेम' हैं।

रिज़ली साहब ने People of India नामक ग्रन्थ में भारत के आदिम-निवासियों की जो तालिका बनाई है उसमें 'टोटेम' का अच्छा परिचय मिलता है। इन जीवों के नाम पर ही इनका गोत्र हुआ करता है। ओरांव जाति के इसी प्रकार के ७३ गोत्र या विभाग हैं। इनमें तिरकी (चुहिया), एक्का (कछुआ), लाकड़ा (लकड़बग्घा), बाघ, गेडे (हंस), खोयेपा (जंगली कुत्ता), मिनकी (मछली), चिर्रा (गिलहरी) आदि हैं (पृ० ७९३)। संथालों में एर्गो (चूहा), मुर्मु (नीलगाय), हंस, मारुडी (जंगली घास), बेसरा (बाज), हेमरण (सुपारी) शंख, कारा (भैंस) आदि गोत्र हैं (वही)।

भूमिकों में शालरिसि (मत्स्य विशेष), हंस, शांडिल्य (पक्षी), हेमरन (सुपारी), तुमरंग (कद्दू), नाग (सर्प) आदि गोत्र हैं (वही पृ० ९५)।

माहिली जाति में भी डुंरी (गूलर) हंस, मुर्भु (नीलगाय) नाम हैं। कोए जाति में कश्यप (कच्छप), शोल (मछली), वासिवक (बगला), हंस, वटकू (सूअर), सांयू (सांड) आदि हैं। कुर्मी जाति में तयार (भैंस),

डुमुरिया; चोंच मुक्कुआर (मकड़ी), हस्तवार (कच्छप), बाघ आदि नाम हैं (वही पृ० ८६)। जगन्नाथी कुम्हारों में कौण्डिन्य (बाघ), सूर्य, नेवला, गरु (बैल), मुद्दिर (मेढक), भरभद्रिया (गौरैया), कूर्म आदि नाम हैं।

उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले की आगरिया जाति में इसी प्रकार के सात भाग पाये जाते हैं। 'मर्काम' गोत्र के लोग 'मर्काम' अर्थात् कच्छप नहीं खाते; कच्छप ही उनका टोटेम है। गोइरार गोत्र वाले गोइरार वृक्ष के पूजक हैं, इस वृक्ष को वे काट नहीं सकते। परसवान या पलसवान इसी तरह पलास के उपासक हैं; शनवान् 'सन' को आदरणीय मानते हैं और किसी काम में सन का व्यवहार नहीं करते; बड़गवाड़ बरगद के पेड़ को पवित्र समझते हैं; बंझकवार या बंगछवार लोग बेंग या मेंढक को तथा गिधले गीध को इसी प्रकार आदरणीय समझते हैं[१]।

डाल्टन साहब के (Ethnology) से इस प्रकार की बहुत खबरें संग्रह की जा सकती हैं।

गोरखपुर जिले के नागवंशी क्षत्रिय लोग 'नाग' को ही अपना पूर्व-पुरुष कहते हैं और नाग को अति पवित्र और आदरणीय समझते हैं[२]।

उत्तर प्रदेश की नट जाति में कई इसी प्रकार के गोत्र हैं। 'जघट' एक सर्प को कहते हैं। 'डरे' सूअर है, 'मरई' एक पेड़ है, 'झिंझरिया' एक तरह का बांस है। ये सब उनके गोत्रों के नाम हैं[3]।

टोटेम की यह घटा दक्षिण में ही अधिक है। अनन्त कृष्णा आयर लिखित[४] पुस्तक के प्रथम खण्ड में 'टोटेमिज्म' नामक अध्याय में बहुत-सी बातें संगृहीत हैं (पृ० २४२-२६२)। आडू (बकरी) गोत्रवाले आडू

[१]Tribes and Castes of the N. W. P. and Oudh, W. Crooke Vol. I P. 2.
[२]Crooke, Vol-VI. P. 39.
[3]वही Vol. IV P. 72.
[४]Mysore Tribes and Castes.

या बकरी को नहीं मारते। मैसूर राज्य में इसी प्रकार आने (हाथी), आरसिना (केसर), अरसू (वट), अहि (गूलर), बेडू (नीम), हुरेली (चना), मेनसु (पीपल), नगरे (वृक्ष विशेष) आदि गोत्र हैं[1]। इनके सिवा कुत्ता, खरगोश, बकरा, भैंसा, बिच्छू, चींटी, चन्दन, पीपल, इमली, जीरा, लाची, कपास, मोती, शंख आदि गोत्र भी हैं (पृ० २४८)। उस देश में होलेव जाति की संख्या बहुत है। उनमें हाथी, भैंसा, खरगोश, सांप, कोयल, गूलर, इमली, नीम, केला, कस्तूरी, मल्लिका, नागफनी, कबूतर, पान, मटर, मधु, चाँद, सूर्य, पृथ्वी, सोना, चान्दी, छाता, आदि गोत्र भी हैं (पृ० २४६)।

वहाँ के कीमती या वैश्यों में भी, आंवला, नीबू, कद्दू, चना, लाल कमल, नील कमल, श्वेत कमल, करैला, चिचिंगा, तितलौकी, उड़द, केला, रेड़ी, पिपुल, सन, आम, अनार वंशबीज, गेंहू, दाख, खजूर, गूलर, ईख, मूली, जायफल, सरसों, चन्दन, इमली, सिंदूर, कपूर, आदि गोत्र हैं[2]।

देवाङ्ग जाति में बैल बहुत पवित्र माने जाते हैं। बैल के मरने पर वे लोग बड़े समारोह से उसका मृतक संस्कार करते हैं।

तैलंग देश के गोल्ला लोगों में अबूल (बैल), चिनूथल (इमली), गुर्रम (घोड़ा), गोर्रला (भेड़ा), गोरेंटला (मेंहदी), कटारी (छुरी), नक्कल (स्यार), उल्लिपोयन (प्याज), वक्कयल (बैंगन), आदि गोत्र हैं (वही)। गोल्ला लोगों में जो राधिन्दाला (पीपल) गोत्रवाले हैं, वे पीपल के पत्ते का व्यवहार नहीं करते और कुचिला गोत्रवाले इसी नाम के वृक्ष का व्यवहार नहीं करते।

मैसूर के तोंतियों में शिव और पार्वती नाम के दो भाग हैं। दोनों में कुल मिलाकर ६६ गोत्र हैं, जिनमें आपस में विवाह नहीं हो सकता। ये गोत्र भी कुछ इसी प्रकार के हैं। इनमें भैंसा, बैल, घोड़ा, नाग,

[1] Mysore Tribes and Castes. पृ० २४६-२४८.
[2] वही पृ० २५१.

गौरैया, शंख, चील, जीरा, मल्लिका, केवड़ा, दूब, पीपल, केसर, हल्दी आदि हैं (पृ० २५३)।

तिलंगाने के नाइयों में चितलू (वृक्ष विशेष), घाड़ा, जंबू (एक तरह का पतला) हॉर्फ, वरु (वृक्ष), मल्लिका, सेवती, मोर, हल्दी आदि गोत्र हैं (पृ० २९४।

इस पुस्तक (पृ० २९९) में उस प्रदेश के पशु पक्षी वृक्षादि द्वारा सूचित गोत्रों की बड़ी सूची दी हुई है। इसमें सिंह, बाघ, भालू, श्वेत बाराह, हाथी, बानर, साही खटमल, चूहा, गैंड़ा, भैंस बैल, गाय, भेड़ा, बिल्ली कुत्ता, हिरन, मोर, कोयल, गौरैया, बिच्छू, चींटी, मछली, नेवला, आदि जन्तु हैं। बरगद, गूलर, आम, पीपल, चंपा, चंदन, सागौन, बेल, नारियल, सुपारी, सागू, खजूर, शालि, ताल बांस, ज्वार, मल्लिका, पिप्पली, धान, केला, हल्दी, रीठा आदि हैं। नागवंशवाले मरे नाग को देख लें, तो उन्हें अशौच होता है और क्षौर तथा स्नान से शुद्धि होती है। मादिगा अपने को मातंग कहते हैं और मातंगी देवी की पूजा करते हैं[1]। ई० थर्स्टन की Castes and Tribes of Southern India पुस्तक के सात खण्डों में जीव-जन्तु और वृक्षों के नाम से परिचय देनेवाली अनेक जातियों का नाम है।

---

[1] वही, Vol. IV; PP. 131-2.

१३. मध्यकाल में व्यापक संस्कृति का आदान-प्रदान

शङ्कराचार्य, रामानुज आदि दक्षिण भारत के निवासी थे पर आज समूचे भारतवर्ष में उनका स्थान है। जयदेव बङ्ग देश के थे पर भारतवर्ष में कहाँ उनका गान आदर के साथ नहीं गाया जाता? लीलाशुक बिल्वमङ्गल तमिल देश के रहने वाले थे पर आज का बङ्गाली भी प्रत्येक गृह में, यही समझता है कि वे उसके अपने देश के ही आदमी हैं।

उन दिनों सारे भारतवर्ष में ऐक्य-योग के कितने ही साधन थे। सारे भारत में फैले हुए तीर्थ थे; इसीलिये अन्यान्य प्रान्तों के लोगों की भाँति ही बंगाली के प्रत्येक घर में उसका चित्त राजस्थान के पुष्कर क्षेत्र के दर्शन के लिए व्याकुल रहा करता था। राजस्थान के जैन साधु, दल बाँधकर, बङ्ग देश के पारसनाथ आदि नाना जैन तीर्थों का दर्शन करने आया करते थे।

साधु लोग अपने शिष्यों के साथ, दल बाँधकर, तीर्थ दर्शन और अन्य कई उद्देश्यों से नाना प्रदेश में भ्रमण किया करते थे। चातुर्मास्य और वर्षा काल के उपलक्ष में बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर वास भी करते थे। इसीलिये अनेक प्रकार से प्रत्येक प्रान्त में पारस्परिक भावों का आदान-प्रदान चलता था, इसीलिये एक प्रान्त की संस्कृति दूसरे प्रान्त में फैल पाती थी।

किसी एक प्रान्त में एक धर्म या संस्कृति का उदय होता तो उस धर्म और संस्कृति के साथ ही साथ उस प्रदेश की भाषा भी अन्यान्य प्रान्तों में समादृत होती थी।

संस्कृति और धर्म के साथ ही भाषा का भी विस्तार और प्रचार हुआ करता, तथा प्रत्येक प्रदेश में आपस का परिचय भी घनिष्ठ हो

जाया करता था। नाना-प्रदेश-विस्तृत भाषा पर नाना स्थानों का छाप पड़ा करती थी।

मध्य भारत में प्रचलित संस्कृत की बात छोड़ देने पर भी देखते हैं कि जो पाली भाषा बौद्धों की इतनी भक्ति और श्रद्धा का धन थी वह क्या बाद में केवल उत्तर मागधी मात्र रह सकी? दिनों-दिन वह शौरसेनीधर्माक्रान्त हो गई। जैन-मागधी में ही क्या अन्त तक मगध का वह रूप टिक सका था?

'कल्चर' (संस्कृति) के प्रयोजन से परवर्ती काल में भी, देखा जाता है, अपभ्रंश भाषा नाना स्थानों में व्याप्त हो गई। अवश्य ही प्रान्त भेद से उस में कुछ रूप-भेद भी हुआ था। 'बौद्ध गान ओ दोहा' में जिस प्रकार का अपभ्रंश पाया जाता है, प्रायः उसी तरह का अपभ्रंश ज़रा-ज़रा प्रादेशिक विशिष्टता के साथ, कर्नाटक से बङ्गाल तक फैला हुआ था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के भक्त और साधक लोग उस समय एक दूसरे के गान और भजन समझ सकते थे।

बङ्गाल के नाथ और योगियों के पद, मैनामती और गोपीचन्द्र के गान सारे उत्तर भारत—यहाँ तक कि सिन्ध, कच्छ, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक—में भी गाए जाते थे। मैंने राजस्थान के योगियों में, यहाँ तक कि कच्छ दीनोधर में भी—बङ्गाल के नाथ और योगियों के अनुरूप वाणी का प्रचलन देखा है। गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के गान, नाथ और योगी-पद बङ्गाल, राजस्थान इत्यादि सब जगह प्रचलित थे। जयदेव की भाषा यद्यपि संस्कृति है फिर भी वह काफी मात्रा में प्राकृत-धर्मी है। फिर भी, उनका गान काश्मीर से कुमारी तक सर्वत्र समान भाव से समादृत था। यह ठीक है कि इस तरह का विस्तार होने में पर्याप्त समय लगा था; किन्तु आज के इस वैज्ञानिक सुयोग के काल में भी वैसा होना सहज नहीं है।

दिल्ली के बादशाह के सेनापति होकर राजा मानसिंह बङ्गाल आये थे, फलतः यशोहर (जैसोर) की देवी गईं राजस्थान के आमेर में। साथ

ही साथ यशोहर की देवी के पुजारियों को भी आमेर जाना पड़ा। आज भी वहाँ उस देवी की पूजा भक्ति के साथ होती है और देवी के उन बंगाली सेवकों का दल आज भी उसकी पूजा को चला रहा है।

वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सात प्रधान ठाकुर थे। श्री गोविन्द को श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था; श्री मदनमोहन को श्री सनातन गोस्वामी ने और श्री राधामोहन को श्री जीव गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। किसी-किसी का मत है कि इन्हें श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। श्री गोपीनाथ की प्रतिष्ठा श्री भूगर्भ गोस्वामी और श्री मधु पण्डित ने की थी। श्री श्यामसुन्दर उत्कल देश के भक्त श्री श्यामानन्द के प्रतिष्ठित थे। श्री राधाविनोद की प्रतिष्ठा श्री नरोत्तम ठाकुर ने, श्री गोकुलानन्द की प्रतिष्ठा श्री लोकनाथ गोस्वामी ने और श्री राधारमण की प्रतिष्ठा श्री गोपाल भट्ट ने की थी। श्रीराधाविनोद और श्री गोकुलानन्द की सारी सेवा एक ही साथ होती है।

उत्कल वासी भक्त श्री श्यामानन्द के स्थापित श्री श्यामसुन्दर के सेवक उड़िया हैं, और बाकी ६ ठाकुरों के सेवक बंगाली हैं। "गोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन" इन तीन ठाकुरों की ही प्रतिष्ठा अधिक है। उन में भी गोविन्द की प्रतिष्ठा सबसे अधिक है।

अन्त तक श्री गोपाल भट्ट के प्रतिष्ठित श्री राधारमण का विग्रह ही वृन्दावन में टिक सका। दिल्ली के अत्याचार से श्री गोविन्द, राधा-दामोदर, गोपी नाथ, श्यामसुन्दर, राधाविनोद, गोकुलानन्द इन कई विग्रहों को राजस्थान के जयपुर में चला जाना पड़ा और श्री मदन-मोहन को जयपुराधीश ने अपनी ससुराल करौली में भेज दिया। जयपुर-नरेश के साले करौली के राजा गोपालसिंह ने सन् १७४० ई० के आस-पास करौली में श्री मदनमोहन का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। कहा जाता है कि भक्त सूरदास वृन्दावन में इन्हीं श्री मदनमोहन के बड़े उपासक थे।

वृन्दावन में गोविन्दजी का जो मन्दिर था वह जैसा मनोरम था वैसा ही विशाल भी। इस मन्दिर की दीवाल में जड़े हुए एक अस्पष्ट प्रस्तर-फलक के पाठ से जाना जाता है कि आमेर-नरेश मानसिंह ने अकबर के चौंतीसवें राज्याब्द में, श्री रूप-सनातन के तत्त्वावधान में, गोविन्दजी की प्रतिष्ठा कराई थी। मुलतान के कृष्णदास वणिक् ने भी इस में पर्याप्त सहायता दी थी। यह मन्दिर बाद को मुसलमानों के हाथ से विकृत हो गया। जो थोड़ा-सा बच रहा है उसे देख कर ही अचरज में पड़ जाना पड़ता है। गोपीनाथ जी का मन्दिर भी शेखावाटी (राजस्थान) के रायसिंह का बनवाया हुआ था। ये सम्राट् अकबर के सभासद थे। इस समय यह मन्दिर जीर्ण हो गया है।

वृन्दावन के सात विग्रहों में से छः तो गए राजस्थान में। वहाँ जाने पर भी छः में से पाँच के सेवक बङ्गाली हैं; उनका विवाहादि सम्बन्ध आज भी बङ्गालियों में ही होता है।

दिल्ली के अत्याचार से राजस्थान बचा था। इसीलिये केवल देवता या देवविग्रह ही नहीं, अनेकानेक स्वाधीन मत और सम्प्रदायों के उपदेष्टाओं ने भी अपने-अपने पोथी-पत्रों के साथ राजस्थान में आश्रय ग्रहण किया। नाना स्थानों से सेठों का दल भी आकर वहाँ आश्रित हुआ था। इसीलिये उन दिनों में राजस्थान नाना धर्मों, भावों और ऐश्वर्यों से समृद्ध हो उठा था।

छः-छः गौड़ीय ठाकुर अपने सेवकों सहित राजस्थान में प्रतिष्ठित हुए। इसके फल-स्वरूप गौड़ीय मतवाद राजस्थान में विशेष रूप में सम्मानित हुआ। आज भी गीजगढ़ के सरदार खुशहाल सिंह के समान विद्वान् और भक्त लोग गौड़ीय गुरु के शिष्य हैं। आप एक बार जयपुर के हाईकोर्ट के न्यायाधीश थे।

वृन्दावन में गौड़ीय ठाकुर का मन्दिर बनवा कर और कुसमय में छः ठाकुरों को आश्रय देकर तथा उनकी सेवा के लिए व्यय की व्यवस्था

कर के राजस्थान के—विशेष कर जयपुर के—राजा लोग बङ्गाल के चिर कृतज्ञता के पात्र हुए हैं।

नाना कारणों से जयपुर के साथ बङ्गाल का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्राचीन जयपुर नगर की जो नगर-प्रतिष्ठान-व्यवस्था (Town Planning) इतनी सुन्दर है वह बङ्गाली विद्याधर भट्टाचार्य की बनाई हुई है।

अँगरेज़-राजत्व के प्रारम्भ में राज-काज के लिए और विशेषतः अँगरेज़ी शिक्षा देने के लिए जो बङ्गाली राजस्थान में गए थे, उनकी चर्चा नहीं करूँगा, साथ ही राजस्थान से कलकत्ते में तथा सारे बङ्गाल में जो राजस्थानी, मारवाड़ी व्यवसायियों का दल वास करके दिन दिन स्वदेश को समृद्ध कर रहा है उसकी बात भी नहीं करूँगा। क्योंकि यह बात इस नए युग से सम्बन्ध रखती है। हमारा वक्तव्य उस मध्य युग से है जब नाना प्रान्तों में सम्बन्ध स्थापित करने में धर्म और 'कल्चर' का तक़ाज़ा छोड़कर अन्य कोई स्थूल वैषयिक तक़ाज़ा ही नहीं था।

आज कलकत्ते का बड़ा बाज़ार देखने से जान पड़ता है कि कोई राजस्थान का ही महानगर है। प्राचीन काल में भी व्यवसाय के लिए मुर्शिदाबाद, जियागञ्ज प्रभृति स्थानों में अनेक राजस्थानी जैन सेठ आ कर वास करने लगे थे।

जो हो, राजनैतिक और वैषयिक सम्बन्ध कभी भी ऐसा विशुद्ध नहीं होता। इसीलिये राजस्थान और बङ्गाल में जो विशुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है उसी को मैं श्रद्धा-सहित स्मरण कर रहा हूँ।

राजस्थान के पास ही हैं वृन्दावन और मथुरा। श्री वल्लभाचार्य के मत को पुष्टि-मार्ग कहते हैं। इनका स्थान मथुरा-गोकुल में था, वृन्दावन में नहीं। इनको भी अन्त में नाथद्वारा में जाकर आश्रय लेना पड़ा। वृन्दावन गौड़ीय भक्तों की साधना और राजपूत राजाओं की सहायता से ही गठित हो उठा था।

सनकादि सम्प्रदाय से उद्भूत होने पर भी वृन्दावन का राधावल्लभी सम्प्रदाय गौड़ीय मत से, विशेष कर नित्यानन्दी भाव से, प्रभावान्वित था। इसीलिये वे पुरुष की अपेक्षा प्रकृति को ही प्रधान मानते हैं। उनकी राधा आगे हैं कृष्ण पीछे। इस सम्प्रदाय के साथ गौड़ीय महाप्रभु के सम्प्रदाय का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि नागरीदास राधावल्लभी कहे जाते हैं पर बहुत लोग उन्हें गौड़ीय सम्प्रदाय के ही समझते हैं।

सोलहवीं शताब्दी के शेष भाग में वृन्दावन में हरिदासी या टट्टी सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। इनमें भी गौड़ीय भावों का प्रभाव पाया जाता है। इस सम्प्रदाय में विट्ठलविपुल, विहारिणीदास, सहचरीशरण प्रभृति विख्यात लोगों ने जन्म ग्रहण किया। विख्यात कवि शीतल स्वामी का जन्म भी इसी टट्टी सम्प्रदाय में हुआ था। इन सब महापुरुषों के लेख और प्रभाव से भी राजस्थान में गौड़ीय भावों का बहुत प्रसार हुआ है।

भक्त और साधिका मीरांबाई राजस्थान की कन्या हैं, यह बात बङ्गाल के भक्त कभी मन में भी लाते हैं? मीरांबाई तो उनके अपने घर की हैं; उनकी जीवनी, उनका गान तो बङ्गाली भक्तों की अपने अन्तर की वस्तु है!

मीरां के साथ गौड़ीय साधकों का घनिष्ठ परिचय हुआ था, बहुत कुछ गौड़ीय प्रभाव भी उनके जीवन में घटा था। फिर मीरां के गान ने भी बङ्गाल के भक्तों को कम सरस नहीं किया था। वे तो मीरां को अपना स्वजन ही समझते थे।

उन दिनों में भी देखते-देखते किस प्रकार एक प्रदेश का उत्तम काव्य और साहित्य दूसरे प्रदेशों में फैल जाता था, इस बात को हम मलिक मुहम्मद जायसी (१५४०) के 'पदुमावती' काव्य के प्रसार को देख कर समझ सकते हैं। जायसी एक ओर तो चिश्ती सम्प्रदाय के मुहीउद्दीन के शिष्य थे और दूसरी ओर अलङ्कारादि शास्त्रों में ब्राह्मण पण्डितगण उनके गुरु थे। अमेठी के हिन्दू राजा उनके भक्त थे। उन्होंने ही जायसी की दरगाह बनवा दी थी।

इस पद्मावती की रचना के कुछ ही दिन बाद बङ्गाल में भी उस की ख्याति फैल गई।

सुदूर अराकान तक जब इसकी ख्याति फैल गई तो वहाँ के मुसलमान राजा मगन ठाकुर के अनुरोध से कवि अलावल ने पद्मावती का बँगला अनुवाद किया। कहाँ जायसी का देश और कहाँ अराकान! इस पद्मावती काव्य से ही बङ्गाली के घर-घर में भीमसिंह और पद्मिनी की कथा प्रसिद्ध हो गई। इसीलिये पुरानी बँगला कहानियों में पुष्कर की अपेक्षा चित्तौर का नाम अधिक सर्वजन परिचित है। चित्तौर की इस कथा के कारण सारा राजस्थान उनकी अपने घर की चीज़ हो गई।

उस समय साधारण जनता उदयपुर का नाम बहुत कम जानती थी। त्रिपुरा राज्य में एक उदयपुर के स्थापित होने पर भी राजा-रईसों को छोड़ कर साधारण लोग उदयपुर का नाम कुछ अधिक नहीं जानते थे।

वर्तमान युग में प्राचीन भारत की वीरता के प्रति भक्ति दिखाने के लिए राजस्थान के इतिहास ने सम्भवतः बंगला साहित्य में ही पहले-पहल अत्यन्त मुख्य स्थान ग्रहण किया था। परन्तु हमारा विषय है मध्य युग की साधना का परिचय। इसीलिये आज इन बातों के उल्लेख का कोई हेतु नहीं है।

केवल हिन्दुओं के द्वारा ही बङ्गाल और राजस्थान का सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हुआ। मुसलमान साधकों के द्वारा भी यह सम्बन्ध दिन-दिन घनिष्ठ होता गया है।

साधक-शिरोमणि मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) ने अपनी साधना का पीठ अजमेर को बनाया। इसीलिये बङ्गाल में ठेठ देहात के मुसलमान भी मक्का की भाँति पवित्र समझकर अजमेर में तीर्थ यात्रा को जाते हैं। हिन्दू साधकों में से भी अनेक साधकों ने चिश्ती के साधना-स्थान तक तीर्थ-यात्री की भाँति श्रद्धा सहित यात्रा की है। १६२५ ई० के आस-पास श्रीहट्ट के विथङ्गल मठ के संस्थापक साधक

रामकृष्ण अपने शिष्य कृपालदास को ले कर वहाँ गए थे और वहाँ कुछ दिन रह कर बहुत से साधकों से परिचित हुए।

सुप्रसिद्ध फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल के पिता का नाम था मुबारक नागोरी। ये यद्यपि भारतवर्ष के बाहर से आए थे फिर भी आकर जोधपुर के अन्तर्गत नागोर नामक ग्राम में रहने लगे थे। इसीलिये इन की उपाधि 'नागोरी' हुई। क़ुरान, हदीस इत्यादि शास्त्रों पर मुबारक की विशेष अवस्था नहीं थी। वे स्वाधीन 'कलचर' के उपासक थे। इसीलिये वे यूनानी अर्थात् ग्रीक दर्शन और नव अफलातूनी (Neo-Platonic) ज्ञान के अगाध पण्डित थे। भारत में इतना स्थान रहते हुए भी क्यों ये राजस्थान में ही आकर रहने लगे, यह समझना कुछ विशेष कठिन नहीं है। जो राजस्थान चिर काल अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए युद्ध करता आया था वही स्वाधीनता के साधकों का आश्रय-स्थान था और था स्वाधीन चिन्ता का उपयुक्त साधना-पीठ। इसीलिये देखा जाता है कि मध्य युग में राजस्थान मे अनेकानेक स्वाधीन मतवाद का प्रादुर्भाव हुआ है और बाहरी अत्याचार से पीड़ित अनेक मतवाद इसी राजस्थान में आश्रित हुए हैं।

अकबर जब अपने उदार धर्म के प्रचार के लिए उद्यत हुए उस समम नागोरी मुबारक के पुत्र सुप्रसिद्ध फ़ैज़ी (१५४७) और अबुलफ़ज़ल (१५५१) ही उनके दाहिने हाथ थे। मुबारक अपने पुत्रों को भारतीय शास्त्र, दर्शन और कलचर (संस्कृति) में सुपण्डित बनाया था। फ़ैज़ी वेदान्त के गम्भीर पण्डित थे। उन्होंने अच्छे-अच्छे वेदान्त-ग्रंथों, महाभारत, रामायण आदि का अनुवाद किया था।

जब मध्ययुग के उदार धर्म-साधकों ने साधना में हिन्दू और मुसलमानों की अध्यात्म-विद्याओं का समन्वय करना चाहा तो उस समय भारतीय संस्कृति ने वेदान्त-विद्या को तथा मुसलमानों द्वारा समादृत यूनानी 'कलचर' ने नव-अफलातूनी (Neo-Platonic) मत को आगे किया। इन दोनों मतों ने दो दिशाओं से आकर बीच में मिलन-सेतु को

रचना की थी। वास्तव में ये ही दो मत ऐसे थे जिनमें इतना प्रसार-गुण था कि इस कार्य को कर सकते थे। मध्ययुग के भारतीय असाम्प्रदायिक उदार साधकों में, विशेष कर बङ्गाल के आउल बाउलों में, इस भारतीय नव-अफलातूनी मत को 'नागोरी विद्या' नाम दिया गया है। खूब सम्भव है कि मुबारक नागोरी के नाम पर ही यह नामकरण हुआ हो।

दरिया साहब नाम के दो साधकों ने साधना के द्वारा इस नागोरी मत को विशेष रूप से प्रतिष्ठित और विस्तृत किया था। एक थे दरिया साहब मारवाड़ी (१६७६-१७५८)। इनका जन्म मुसलमान माता से धुनिया वंश में हुआ था। बहुत लोग इन्हें दादू का अवतार समझते हैं। दादू की भाँति इनके उपदेश १५ अङ्गों में विभक्त हैं। इस मत में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के शिष्य हैं। ये लोग राम परब्रह्म आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। इनके यहाँ ब्रह्म परिचय है, और हैं योग की गम्भीर बातें।

एक दरिया साहब बिहारी थे। उज्जयिनी के राजवंश की एक धारा आकर बक्सर के पास जागदीशपुर में राज्य करती थी। उसी क्षत्रिय वंश में साधक पीरनशाह ने जन्म ग्रहण किया था। सूफ़ी साधना से आकृष्ट होकर पीरन साहब सूफ़ी हो गए। इन्हीं पीरन साहब के पुत्र थे दरिया साहब। कबीर के द्वारा ही विशेष रूप से आप अनुप्राणित हुए थे। आप भगवान् को 'सत्यनाम' कहा करते थे।

ये लोग लिखित किसी शास्त्र, व्रत, तीर्थ, आचार, बाह्य विधि आदि के कायल नहीं हैं। विग्रह-मूर्ति या अवतार की पूजा भी ये लोग नहीं करते। जातिभेद भी नहीं मानते। मत्स्य-मांस और जीव-हिंसा का इनके यहाँ निषेध है। इनके ३६ प्रधान शिष्य थे। चार स्थानों पर इनके चार प्रधान अखाड़े हैं। मनुआ चौकी के अखाड़े के अलखशाह पूर्व देश में गए थे। गौड़ वरेन्द्र होकर, मैमनसिंह और अष्टग्राम होते हुए, ये दक्षिण में शाहबाज़पुर तक गए थे। हिन्दू और मुसलमान सबको ये

लोग और मैत्री का उपदेश सर्वत्र करते फिरे। इन्हीं के उपदेश के फल-स्वरूप नागोरी मत विशेष रूप से बङ्गाल मे प्रचारित हुआ और आउल-बाउल, दरवेश आदि सम्प्रदायों में फैल गया। पूर्व बङ्ग के मदन प्रभृति पद-रचयिताओं में, दक्षिण शाहबाज़पुरी और अष्टग्रामी बाउलों में और रङ्गपुर के पश्चिम भाग के सोनाउल्लाशाह के सम्प्रदाय आदि में यह नागोरी मतवाद इसी तरह प्रतिष्ठित हुआ।

अलवर राज्य में अट्ठारहवीं शताब्दी में रसूलशाह नामक एक फ़क़ीर रहते थे। बंगाल के एक तान्त्रिक साधक के निकट वे तान्त्रिक साधना के रहस्यों से अवगत होकर तान्त्रिक साधना में प्रवृत्त हुए। बाद को वे एक मशहूर तान्त्रिक हुए और उन्होंने इस मत का प्रचार किया। यह मत पञ्जाब तक फैल गया। ये लोग तान्त्रिकों की तरह चक्र में बैठते हैं और वीराचार से साधना कहते हैं। ये लोग षट्चक्र-भेद करके सहस्रार सुधा का पान करते हैं। लौकिक मद की भी ये लोग उपेक्षा नहीं करते। ये लोग अलौकिक क्रिया कर सकते हैं और रसायन विद्या में बड़े पटु होते हैं। काव्य-साहित्य के रसास्वादन में भी इनकी प्रतिष्ठा है*।

इनके एक शिष्य थे शाहअली। ये बङ्गाल में आकर उत्तर बंग के भोट-मारी में गये और सहज साधक रूपचन्द गोसाईं के साथ साधना में युक्त हुए। उस समय वहाँ तीन सहज मत के साधकों के सम्प्रदाय थे। कमल कुमारी, माझवाड़ी और मध्यमा। कमलकुमारी मत के साधक माला-विग्रह

---

* यह लेख लिखा जा चुका था, मैं भेजने की व्यवस्था कर रहा था, कि मेरे एक गुजराती मित्र ने काठियावाड़ में पायी गई बँगला की एक प्राचीन हस्त लिखित पुस्तक दिखाई। यह पुस्तक बङ्गाल के रसूलशाही तान्त्रिक मत की है। पुस्तक जैन पुस्तकालय में पड़ी थी। मालूम होता है, भूल से यह पुस्तक राजस्थान का सफ़र करती हुई जैन साधुओं के साथ काठियावाड़ पहुँची।—लेखक

आदि ग्रहण करते थे, इसीलिये शाहअली की उनके साथ विशेष घनिष्ठता नहीं हो सकी। माभवाड़ी सम्प्रदाय के साधकगण उदार और 'अव्यक्त-लिंगाचार' थे। ये माला, विग्रह, तुलसी, गंगाजल आदि की विशेष पूज्यता नहीं मानते। साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि भी इनमें कुछ वैसी नहीं थी। इसीलिये इन्हीं के साथ शाहअली का योग हुआ! रूपचन्द गोसाईं के शिष्य खेपा (=पागल) गोसाईं नीलफामारी के अन्तर्गत बेलपूकुर ग्राम में १५-१६ वर्ष पहले मरे हैं। उस समय उनकी अवस्था शायद ७५ वर्ष की थी। उस प्रदेश के हिन्दू-मुसलमान बाउलों में आज भी उनकी साधना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

जयदेव के गीतगोविन्द का ही नाम प्रसिद्ध है। किन्तु साधकों में उनके अनेक सहज पद भी प्रचलित हैं। केवल सिख लोगों के ग्रन्थ साहब में ही नहीं, दादू-पन्थी साधकों प्रभृति ने भी अत्यन्त समादर के सहित उन सब पदों को अपने संग्रह-ग्रंथों में ग्रहण किया है। ये पद असल में बंगला में लिखे गए थे; किन्तु पञ्जाब, राजस्थान प्रभृति प्रदेशों तक पहुँचने में उन्हें कोई बाधा नहीं थी! यद्यपि उन स्थानों में जाकर इन पदों में बहुत रूपान्तर हो गया है। उन दिनों राजस्थान और पञ्चनद के साधक जयदेव को अपने घर का ही आदमी समझते थे; यह बिलकुल नहीं समझते थे कि वे एक भिन्न प्रदेश के आदमी हैं।

रामानन्द के बहुत-से शिष्य थे। उनमें बहुतों का जन्म राजस्थान में हुआ था। कुछ लोग ऐसे भी थे जो साधना की सुविधा के लिए वहाँ जा बसे थे। रामानन्द के शिष्यों में धन्ना जाट जाति के थे। पीपा राजपूत थे और एक छोटे-से राज्य के अधिपति थे। अपने कुल-धर्म शाक्त-साधना को छोड़कर भक्ति के पथ में आए और राज्य-ऐश्वर्य त्याग कर बाहर निकल पड़े। उनकी एक रानी भी उनके साथ चलीं। द्वारका के पास पीपावट में वे बहुत दिनों तक रहे। वहाँ पीपा के भक्तों का एक मठ है।

पूर्व बङ्ग के विख्यात विथङ्गल मठ के स्थापयिता प्रसिद्ध साधक

रामकृष्ण १६२५ ई० के आसपास तीर्थयात्रा के लिए पीपावट में गये और कुछ दिनों तक वहीं रहे भी। इसीलिये रामकृष्ण के स्थापित विथङ्गल मठ और ढाका फरीदाबाद के मठ में भी उन दिनों पीपा-पन्थी साधुओं का प्रचुर यातायात हुआ करता था। रामकृष्ण के भक्त भी राजस्थान और द्वारका के पीपा भक्तों के मठ में जाया-आया करते थे। वे लोग जयपुर गलता के अनन्तानन्द के मठ में भी जाया-आया करते थे। अनन्तानन्द रामानन्द के ही एक शिष्य थे। जयपुर में खाकी सम्प्रदाय का एक मठ है, वहाँ तक भी बंगाल के भक्तों की गति-विधि थी।

साधक रैदास जाति के चमार थे। एक समय राजस्थान में उनका यथेष्ट प्रभाव था। राजस्थान के अनेक कुलीन और राजवंशियों में भी उनके भक्तों का अभाव नहीं था। बङ्गाल में भी बहुत रैदासी थे। इसीलिए वे लोग चिर दिन से ही राजस्थान को प्रीति के साथ स्मरण करते आए हैं।

अलवर के लालदास का जन्म उस मेव-वंश में हुआ था जिनका व्यवसाय ही लूट पाट था। भक्तों में यह बात प्रसिद्ध है कि एक गौड़ीय वैष्णव साधक की प्रेम साधना देख कर ही ये भजन-कीर्तन के अनुरागी हुए थे। अलवर के डेहरा ग्राम में भक्त चरणदास का जन्म हुआ था। दिल्ली के आस-पास इनके बहुत भक्त हैं। बिहार और बङ्गाल में भी इनके भक्त बीच-बीच में दिखाई दे जाते हैं।

रामसनेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्तराम या रामचरण का जन्म जयपुर के सुरासेन ग्राम में हुआ था। उत्तर-पश्चिम प्रदेश से लेकर गुजरात तक उनके अनेक मठ हैं। बङ्गाल में भी उनके भक्त कहीं-कहीं थे।

कहा जाता है कि दादू और उनके कई शिष्य देश-पर्यटन करते-करते बङ्गाल और जगन्नाथ तक आए थे। दादू के शिष्य सुन्दरदास भी बङ्गाल में रहे थे। १५९६ ई० में, द्यौसा नगर में, सुन्दरदास का जन्म हुआ था। कविरूप से भी सुन्दरदास की खूब ख्याति है।

भक्त दादू का (१२४४-१६०३) नाम और साधना-स्थान राजस्थान में प्रसिद्ध है। बङ्गाल के बाउल भी उनका नाम अति श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। इन्हीं बङ्गाल के बाउलों के गान में ही मुझे प्रथम बार सन्धान मिला कि दादू पहले मुसलमान थे और उनका नाम था 'दाऊद'। बाउलों के गान में ही सुना था—"श्रीगुरु 'दाऊद' बन्दि 'दादू' यॉर नाम।" (श्री दाऊद गुरु की वन्दना करते हैं जिनका नाम है दादू।) बाद को अनेक राजस्थानी ग्रंथों में भी मैंने इस बात का समर्थन पाया था।

कहा जाता है कि दादू ने देश-परिक्रमा करते समय बङ्गाल में आकर यहाँ के भक्तों और साधना के साथ घनिष्ठ भाव से परिचय स्थापन किया था।

दादू-पन्थी अनेक पुरातन संग्रह-ग्रंथों में नवनाथों के नाम और उनके पद पाये जाते हैं। मैंने इस प्रकार का एक बृहत् संग्रह-ग्रंथ जयपुर के एक वृद्ध दादू-पन्थी साधु के पास देखा था। उनके शिष्य शङ्करदासजी हमारे परिचित थे। ग्रन्थ सन् १७०६ ई० का लिखा था। बाबा ईश्वरदास ने अपने शिष्य वैरागी सन्ता से इसे लिखवाया था। ग्रन्थ का लेखन कुतुबखाँ की मढ़ी में बाबा गोकुलदासजी की कुटिया में वैशाख कृष्ण ११ को समाप्त हुआ था। यह एक संग्रह-ग्रंथ है। इसमें एक नाथ-पद है—

"अदेख देखिबा देखि विचारिबा,
आकृष्ट राखिबा बाचिया...
पाताल गङ्गा स्वर्गे चढ़ाइबा"—इत्यादि।

बङ्गाल के नाथ-पन्थियों में ये पद अति परिचित हैं।

दादू बानी के माया अङ्ग में है—

"उभा मारं, बैठ बिचारं, सम्भारं जागत सूता।
तीन लोक तत जाल विडारण तहाँ जाइगा पूता।" (१२६)

और पूर्व बङ्ग के नाथ योगियों में पाया जाता है—

"उठ्या सारन, बैठ्या सारन, सामाल जागत सूता।
तिन भुवने बिछाइना जाल कइ याबि रे पूता"

राजस्थान के नाना ग्रन्थों में माया और गोरखनाथ का संवाद पाया जाता है। उसमें देखा जाता है कि माया कहती हैं

ऊभा मारुं बैठा मारूं, मारूं जागत सूता।
तीन भवन भग जाल पसारूं, कहाँ जायगा पूता।

और पूर्व बङ्ग के नाथपन्थियों के पद में देखते हैं—

उठ्या मारुम बैठ्या मारुम, मारुम जागत सूता।
तिन धामे[1] काम जाल बिछाइमू कइ जाबि रे पूता।

राजस्थानी दादू-पन्थी पोथी में देखते हैं तो गोरखनाथ इसके उत्तर में कहते हैं—

ऊभा खण्डूं बैठा खण्डूं, खण्डूं जागत सूता।
तीन भवन ते भिन ह्वै खेलूं तो गोरख अवधूता।

बङ्गाल के योगियों के पद में देखते हैं—

उठ्या खण्डुम बैठ्या खण्डुम खण्डुम जागत सूता।
तिन भुवने खेलुम आलग तय तो अवधूता।

नाथ-योगियों के पद की यह भाषा पूर्व बङ्गाल की नितान्त परिचित ठेठ ग्राम्य भाषा है।

इससे क्या यह नहीं मालूम होता कि राजस्थान और बङ्गाल के साधकों की घनिष्ठता कितनी गहरी और एकान्त थी?

नराना, आमेर और साँभर में दादूजी के साधना-स्थान, द्यौसा में जगजीवनजी और सुन्दरदासजी का स्थान, सांगानेर और फ़तेहपुर में

[1] "तिनभवे भगजाल बिछाइमू" पाठ भी है।

रज्जबजी का स्थान, जोधपुर के गूलर ग्राम में माधोदासजी का स्थान, डीडवाणा और फ़तेहपुर में प्रयागदासजी बिहाणी का स्थान, बूशेरा में शङ्करदासजी का स्थान, सांगानेर में मोहनदासजी का स्थान, आन्धी में जनगोपालजी का स्थान—ये सब स्थान बंगाल के साधकों के निकट भी अपरिचित नहीं हैं। आजकल के शिक्षित विद्वद्वृन्द इन सब घनिष्ठताओं की कोई ख़बर नहीं रखते; फिर भी इन दो देशों के निरक्षर दीन दुखी साधकों के दल कितने प्राचीन काल से ही परस्पर में घनिष्ठता-स्थापन करते आ रहे हैं।

---

१४. जातिभेद की प्रचण्डता और प्रसार

राजा राममोहन राय ने जब आधुनिक युग के प्रत्यूष काल में समाज में सुधार लाना चाहा था, तो उन्होंने जातिभेद हटा कर एक अलग सम्प्रदाय नहीं खड़ा करना चाहा था। उनके सुयोग्य सहकारी महर्षि देवेन्द्रनाथ की भी इच्छा ऐसी नहीं थी। ये लोग वर्ण और जातियों में असमान व्यवहार और एक का दूसरे पर अत्याचार पसंद नहीं करते थे। बाद में जब केशवचन्द्र सेन आदि ने एक जाति-वर्ण-हीन नवीन सम्प्रदाय स्थापित करने की सोची, तभी देश के साथ एक जबर्दस्त मुठ-भेड़ हुई। ऐसे ही समय में रामकृष्ण परमहंस की उदार वाणी सुनाई दी। लोगों का उधर झुकाव हुआ। स्वामी विवेकानन्द यद्यपि धर्म-साधना में परमहंस देव के शिष्य थे तथापि वे छुआछूत और जातिभेद के विरोधी थे। लोगों ने उनके इस विरोध को छोड़ कर ही आराम से उनके मत को स्वीकार किया। पश्चिमी भारत में स्वामी दयानन्द ने गुण कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था स्थापित करनी चाही, पर वह आन्दोलन भी असफल ही रहा। आज हालत यह है कि जाति-वर्ण की कल्पना को छोड़ने का अर्थ ही समझा है हिंदू धर्म को छोड़ना। इच्छा से हो या अनिच्छा से, भारतीय आर्य-धर्म आज जातिभेद से इस प्रकार जकड़ गया है कि उससे उसे मुक्त करने की बात कोई सोच ही नहीं पाता।

बौद्ध लोग जातिभेद की प्रथा के विरुद्ध सैकड़ों वर्ष तक लड़कर अन्त में हार मानने को मज़बूर हुए। जैनों ने भी इस प्रथा के साथ धीरे-धीरे समझौता कर लिया और समझौते के बल पर ही अब तक टिके रहे। उनका श्वेताम्बर-दिगम्बर बंधन जातिभेद से भी दृढ़ है[१]। जैनों में भी

[१] Gloss.I. 105

ब्राह्मणादि जातियाँ हैं और उनमें नौ या सात वर्ष की उमर में ग्रहपूजा, शान्तिस्वस्त्ययन आदि के साथ बालकों का उपनयन भी होता है[1]। उनके विवाह में ब्राह्मण पुरोहित होम आदि करते हैं[2]। वस्तुतः ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध लड़ने से ही यद्यपि उनका आरंभ हुआ था, पर वे अन्त तक चलकर उससे समझौता करके ही अपनी हस्ती बचा सके[3]।

भागवत धर्म भक्ति और प्रेम का धर्म है। इसमें जातिभेद का स्थान न होना ही स्वाभाविक था। पर भागवत गण अपने आदर्श के रूप में भले ही जातपाँत को स्थान न दें, समाज में उसे मानने को मजबूर हुए हैं। वे लोग भीतर ही भीतर मानते हैं कि "विप्राद्विषड्गुणयुताम्—चण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठ हरिभक्तिपरायणः" किन्तु यह केवल धर्म-साधना के क्षेत्र में। समाज से यह बात वे नहीं चला सके। महाप्रभु चैतन्यदेव प्रेम-भक्ति के अधिकार में यद्यपि जाति और सम्प्रदाय का भेद नहीं मानते तथापि खान-पान और सामाजिक व्यवहार में वे इसे अस्वीकार नहीं कर सके थे।

अद्वैताचार्य महाप्रभु चैतन्यदेव के दाहिने हाथ थे। ये श्रेष्ठ वारेन्द्र श्रेणी के ब्राह्मण थे। समाज त्याग करने का उत्साह उनमें नहीं था। इस विषय में नित्यानन्द अधिक साहसी थे। जातपाँत हटा देने के प्रस्ताव पर नित्यानन्द तो राजी थे पर अद्वैताचार्य राजी नहीं थे। अकेले नित्यानन्द वैष्णव समाज से जातपाँत को उखाड़ने में समर्थ नहीं थे। अद्वैताचार्य इस सामाजिक व्यवहार के सिवा अन्यत्र बहुत उदार थे। इसीलिये वे यवन हरिदास को श्राद्धपात्र दे सके थे। उन दिनों यह मामूली बात नहीं थी। सुना जाता है कि श्री नित्यानन्द ने भक्त उद्धारणदत्त के हाथ का खाने में जूँठे का भी विचार नहीं किया था। इसीलिये 'चैतन्यचरिता-

---

[1] Mysore: III. 421

[2] वही ४०६

[3] वही ४६३

मृत ग्रंथ' में लिखा है कि नित्यानन्द अवधूत थे, ऐसा करने से उनका कुछ बनता बिगड़ता नहीं (नान्यदोषेण मस्करी)। बाद में यद्यपि इन्होंने विवाह किया था, पर सबने इन बातों को उनके अवधूतपन का कार्य ही मान लिया है। महाप्रभु चैतन्य देव ने एक बहुत बड़ा कार्य किया है, शूद्रादि हीन जातियों को ब्राह्मणादि को भी मंत्र-शिष्य बनाने का अधिकार देकर। यही कारण है कि आज भी वैष्णव समाज में अनेकानेक अब्राह्मण गुरु के निकट ब्राह्मण शिष्यों को मस्तक नत करते देखा जाता है।

कहा गया है कि महाराष्ट्र के नामदेव और तुकाराम आदि शूद्र थे। निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपान और मुक्ताबाई यद्यपि ब्राह्मणों की सन्तान हैं तथापि उनके पिता ने संन्यास आश्रम त्याग कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। इसीलिये उनकी सन्तान शास्त्रीय मत से पतित हुई। ये लोग भी शूद्र भक्तों के प्रति भक्ति रखते थे। इन्होंने श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों से पहले अन्त्यजों को भोजन कराया था। महाराष्ट्र में शूद्र भक्तों के अनेक ब्राह्मण भक्त हैं[१]।

कबीर, दादू आदि भक्तों ने जातिभेद पर कठोर आक्रमण किया है। न करने से लोग इन्हीं का नेतृत्व क्यों स्वीकार करते? किन्तु आजकल उनके ही सम्प्रदाय में जातिभेद पूर्ववत् विद्यमान है। आचार विरोधी कबीर के ही सम्प्रदाय के ऊदा पंथी में चलकर ऐसे कठोर आचारपरायण हुए हैं कि भारतवर्ष के नम्बूद्री ब्राह्मण भी शायद ही ऐसे हों। इस विषय में सिख लोग अधिक सफल कहे जायँगे। गुरु गोविन्द सिंह के खालसा धर्म में जाति-धर्म-निर्विशेष सभी सादर स्वीकृत हुए हैं। उनमें कलवार यानी मद्य-विक्रेता कलाल जाति भी क्रमशः अभिजात हो सकी है। तथापि इनमें भी मेहतर आदि श्रेणियाँ आज भी विच्छिन्न हैं। इन्हें 'मजहबी' कहते हैं। मोची और जुलाहे सिख रामदासी कहलाते

[१]Ghurye PP. 94.95

हैं। ये भी साधारण सिख समाज से अलग हैं। सिखों में केशधारी और सहजधारी ये दो भाग हैं। फिर निरञ्जनी, निरङ्कारी, गंगूशाही, मीना, सेवापंथी, कूकापंथी, निर्मला, उदासी आदि श्रेणियाँ जातिभेद से कम नहीं हैं।

गोस्वामी तुलसीदास परम भागवत थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि लड़कपन में दारुण दारिद्रयवश वे सब जाति के घर का टुकड़ा माँगकर खाने को मजबूर हुए थे। दर-दर भटककर, उन्होंने दिन काटा था। यद्यपि वे स्वयं ब्राह्मण थे पर उनके परम आराध्य क्षत्रिय अवतार श्रीरामचन्द्र थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं संसार त्याग कर विरक्त जीवन यापन किया है, फिर भी वर्णभेद को वे अस्वीकार नहीं कर सके।

बारहवीं शताब्दी में द्रविड़ देश में भक्त बसव का जन्म हुआ था। शिवभक्ति-प्रधान एक नया सम्प्रयाय उन्होंने खड़ा किया। यही वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय है। बसव ने जातिभेद पर कठोर आक्रमण किया है। किन्तु बाद में उन्हीं के शिष्य-प्रशिष्य जंगम नाम ग्रहण करके ब्राह्मणों की भाँति हो उठे। उनमें आराध्य नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मणों की एक विशेष श्रेणी भी है। धीरे-धीरे इनमें भी शुद्ध-मार्ग-मिश्र-अण्डेवे ये चार वर्ग हो गये। वही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नया नाम लेकर यहाँ अवतीर्ण हुए। इनमें अन्त्यज श्रेणी भी है। इस प्रकार देखा जाता है कि इस देश में जो भी सुधारक जातिभेद को हटाने की कोशिश करते हैं, वे अगर कुछ काल के लिए सफल हो भी जाते हैं, तो बाद में उन्हींका सम्प्रदाय असंख्य जातियों में एक जाति बन बैठता है। ऐसे ही बम्बई प्रान्त में विष्णोई, साध, योगी, गोसाईं आदि जातियाँ बन गई हैं[१]।

जिस प्रकार विशेष-विशेष धार्मिक सम्प्रदायों के कारण नई-नई जातियाँ बनी हैं, उसी प्रकार विशेष-विशेष अवस्था के कारण भी नवीन जातियाँ बनी हैं। उड़ीसा में अकाल के समय सरकारी सत्र में

---

[१] Ghurye, PP. 29, 95

खाने से एक श्रेणी से लोग हीन समझ लिये गये और उनका नाम छत्रखिया या (छत्तर में खाने वाले) पड़ गया। यह एक अलग ही जाति बन गई। सीलोन में बागों में कुली का काम करने वालों की एक अलग जाति 'चलिय' नाम से बन गई है[१]। उड़ीसा की सागर पेशा भी एक नई जाति है।

मुसलमान धर्म में किसी प्रकार का जातिभेद का नहीं होना ही स्वाभाविक है। पर इनमें भी सेख, सैयद, मुग़ल, पठान भेद हैं। यद्यपि यह भेद धर्म के क्षेत्र में नहीं है तथापि इसका सामाजिक मूल्य है। इसीलिये Cens. Bar. में मुसलमानी जातियाँ अलग गिनायी हुई हैं। इन जातियों में 'रोटी-बेटी' का विचार चलता है[२]। महदवी लोग अन्य सम्प्रदायों से विवाह-सम्बन्ध नहीं करते। बाहर से कन्या यदि ले आते हैं तो पहले उसे अपने संप्रदाय की दीक्षा दे लेते हैं तब ग्रहण करते हैं। ये औरों को अपनी कन्याएँ नहीं देते (पृ० ३४२)। बोहरा लोग अपने को इतना श्रेष्ठ मानते हैं कि उनकी मस्जिद में अन्य श्रेणी के मुसलमान यदि नमाज़ पढ़ें तो वे स्थान को धोकर शुद्ध करते हैं (पृ० ३४६)।

यहाँ के अधिकांश मुसलमान हिन्दुओं से ही हुए हैं। अनेक समय चुटिया कटाने और कलमा पढ़ने के सिवा बाकी सब हिन्दू आचर ज्यों-के-त्यों रह गये हैं। मुसलमान राजपूत, गूजर और जाटों में विवाहादि सम्बन्धी विधि-निषेध हू-ब-हू वही हैं जो इन नामों की हिन्दू जातियों में हैं[3]। दक्षिण भारत के लब्बई मुसलमान निम्न श्रेणी के हिन्दुओं में से बने हैं। उनकी विवाह-प्रथा ठीक वैसी ही है जैसी इस श्रेणी के हिन्दुओं की[४]। सिंध और सीमाप्रान्त में देखा जाता है कि पीर मानों ब्राह्मण हैं,

---

[१] Sacred. Budh. II. 15

[२] Mysore, IV. 290.

[3] Punj. 13-14 और Crook I; P. XVIII.

[४] Mysore. IV, 391.

पठान और विलोक मानों क्षत्रिय हैं और जाट वैश्य हैं। इसके सिवा कारीगरों की श्रेणी शूद्र जैसी है और अन्त्यज जैसी श्रेणी भी है[१]।

मुसलमान समाज में भी जुलाहे, धुनिया, कुलू, हजाम, दरजी, कुजड़ा, आदि सामाजिक स्तर हैं। निकारी और महिमाल आदि इस समाज में भी प्रायः अन्त्यजों के समान हैं। मोमिनों का दावा है कि वे मुसलमान समाज में आधे से अधिक हैं, फिर भी उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। हिन्दुओं की तरह ही मुसलमानों में भी वर्ण मुसलमान बहुत कम हैं फिर भी वे ही अधिकांश क्षेत्रों में जननेता हैं।

तथापि इस समाज में सुविधा यह है कि पैसा होते ही निचली श्रेणी का आदमी उपरले स्तर पर आ जाता है। फ़ारसी पद्य है—

पेशाइन कस्साव बूदेम बाद जान गस्तम शेख।
गल्ला चूं ऐ जान् शवूद् इम्साल सैय्यद मेशवेम्॥

अर्थात् मैं पहले साल कसाई था, दूसरे साल शेख़ हुआ, यदि इस साल गल्ले का दाम चढ़ा तो मैं सैय्यद हो जाऊंगा[२]। इसी बात का समर्थन Punj. पृ० १० में भी है। एक स्थान[3] पर कहा गया है कि इस देश के अधिकांश मुसलमान धर्मान्तरित हिन्दू हैं उनमें जातिभेद जैसा बंधन पूर्ववत् रह गया है। उनमें भी पठान, मुगल, सैयद, सेख़ आदि भाग हैं। वोहरा, खोजा, कुलू, मेमना, जुलाहा आदि श्रेणियों में जातिगत बंधन नितान्त कम नहीं हैं।

हिन्दुओं की छुआछूत भी उनमें घुसी है। वे भी मुसलमानों के सिवा और किसी के हाथ का छुआ जल नहीं ग्रहण करते। वीरभूमि जिले में मैंने देखा है (शायद अन्यत्र भी हो) कि मुसलमान लोग हिन्दुओं के घर 'पक्की' रसोई (अर्थात् पूड़ी आदि) के सिवा और कुछ नहीं खाते। दही और चूड़ा तो खा लेंगे पर भात-दाल नहीं खायेंगे। यह घृतपक्क का

[१] Punj. 15.
[२] Crook, IV, 315.
[3] Cens. Ind, 1921, Vol. I Part I, 227

विधान विशुद्ध हिन्दू स्मृति का विधान है—'आज्यपक्व', पयःपक्व', पक्व' केवलवह्निना।' देखा जाता है कि इस विधान ने मुसलमानों को भी धर दबाया है। यह तो विश्वास नहीं होता कि कुरान या हदीस में भी यह व्यवस्था ऐसी ही पाई जाती होगी। इसलिये यही मान लेना सहज है कि इस व्यापार में काशी की व्यवस्था मक्का-मदीना की व्यवस्था पर हावी है। ये आज भी नहीं समझ सके कि हिन्दू व्यवस्था से लड़ाई करने जाकर वे स्वयं उसी के चक्कर में पड़ गये।

मुस्लिम जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में Cens. Ind. (VI, PP. 439-451) में बहुत-सी जानने योग्य बातें संगृहीत हैं।

पुराने जमाने में जो ईसाई इस देश में आकर दक्षिण भारत में बस गये थे उनमें भी जातिभेद है[१]। उत्तर भारत के ईसाई समाज में भी जातिभेद वर्तमान है। दक्षिण भारत में तो इसने ईसाई समाज में भी पूरा अधिकार जमा लिया है। वहाँ के बहुत से गिर्जों में अन्त्यज श्रेणी के ईसाई प्रवेश नहीं कर सकते। वहाँ के रोमन कैथोलिक ईसाइयों में भी ब्राह्मणादि श्रेणी हैं। पोप पन्द्रहवें ग्रेगरीने यह व्यवस्था दी थी कि भारतीय चर्चों में जातिभेद माना जा सकता है[२]। रोमन कैथोलिकों में हिन्दुओं की ही भाँति बाल विधवा का विवाह नहीं होता[3] और बहुत से हिन्दू आचार ज्यों के त्यों होते हैं (पृ० ४६)।

इस देश में आकर अंग्रेज लोग भी प्राचीन आर्यों की दशा में पड़ गये हैं। ये जातिभेद नहीं मानते फिर भी इस देश में ऊँच-नीच भेद इतना प्रबल है कि दूसरे को घृणा किये बिना अपनी उच्चता प्रमाणित की ही नहीं जा सकती! ये लोग भी भारतीयों को भिन्न जाति का समझते हैं। इनकी दृष्टि में सभी भारत-वासी शूद्र और अस्पृश्य है।

---

[१] Mysore I, P. VI.

[२] Ency. Brit. V, 468 और Ghurye, P. 164

[3] Mysore III, 31

जैसे प्राचीन आर्य अपने शूद्र भृत्यों का अन्न-जल ग्रहण कर लेते थे वैसे ही ये भी अपने भृत्य भारतीयों का अन्न और सेवा ग्रहण कर लेते हैं; नहीं तो बाकी भारतीय उनके लिए अस्पृश्य ही हैं।

आजकल के बहुत से तथा कथित शिक्षित और साम्यवादी भारतवासी प्राचीन जातिभेद को तो बहुत-कुछ मानते ही हैं, नये सिरे से रुपये-पैसे और नौकरियों के कारण एक नई तरह की जाति-प्रथा भी इन्होंने स्वीकार कर ली है। पहले एक एक जाति में एक प्रकार की समान व्यवहारिता या democracy थी। अब हाल यह है कि एक ही जाति में आई० ए० एस० वालों की अलग जाति है, डिप्टी, मुन्सिफ, इञ्जीनियर, डाक्टर, प्रोफेसर, टीचर, क्लर्क ये भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। व्यवसायियों में भी अर्थानुसार मर्यादा भेद है। सीमान्त प्रदेश के शहरों और कस्बों में प्रायः ही इन भिन्न-भिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के क्लब वगैरह एक साथ नहीं चल सकते। इसीलिये शिक्षाप्रसार होने पर भी इस देश का सामाजिक जीवन क्रमशः हीन होता जा रहा है।

यद्यपि रेल, होटल, रेस्टोरां आदि के कारण जातिभेद की कट्टरता धीरे-धीरे कम होती जा रही है तथापि इस विषय के संबंध में तर्क करने की उग्रता अब भी पूरी मात्रा में वर्तमान है। बंगाल में एक मनोरंजक कहावत चल पड़ी है—

जाति मारलो तिन सेने
ष्टेसेने, विलसेने, केशवसेने।

अर्थात् तीन सेनों ने जाति मारी है—स्टेशन (अर्थात् रेलवे स्टेशन) विलसन (उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ते के एक विख्यात होटल के मालिक) और केशव सेन (अर्थात् सुप्रसिद्ध ब्राह्म समाजी नेता केशवचन्द्रसेन)। पर इतनी चोटें खाकर भी जातिभेद इस देश में समूची ताकत के साथ जी रहा है!

---

१५. सामाजिक संहति

एक साथ रहने से ही परस्पर एक प्रकार का योग हो जाता है। सामाजिकता मनुष्य के स्वभाव की एक बड़ी सम्पत्ति है। गाँवों में हिन्दू मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र, ऊँच-नीच सभी में एक तरह का मामा-काका-दादा सम्बन्ध रहता है। जिन लोगों में जातिभेद का विष अधिक तीव्र हो गया है वे इसमें भी दोष देखते हैं। इस दोष-दर्शन के प्रमाण शास्त्रों में भी हैं[1]। वहाँ शूद्र को काका, मामा आदि कहना भी निषिद्ध है!

जातिभेद ने हिन्दुओं की संहति को इस बुरी तरह से नष्ट किया है कि एक जाति वाला दूसरी जाति वाले को पराया समझता है। डेरा इस्माइल खाँ आदि सीमान्त के जिलों में दुर्वृत्त विधर्मी प्रायः ही हिन्दू घरों में लूटते हैं और हिन्दू कन्याओं का अपहरण कर ले जाते हैं। एक मेरे मित्र ने ऐसी एक घटना सुनाई जो एक ही साथ हृदय-विदारक भी है और शिक्षाप्रद भी है। एक बार दुर्वृत्त एक लड़की को उठा ले जा रहे थे। संख्या में वे अधिक नहीं थे। लड़की चिल्ला-चिल्लाकर बचाओ-बचाओ की पुकार कर रही थी। मुहल्ले के लोग लाठी-सोंटा लेकर निकले पर उन्होंने जब देखा कि लड़की-उनकी जाति की नहीं है, बल्कि बनिया की है, तो लौट गये। कहने लगे—यह तो बनिये की लड़की है। दुर्वृत्त दस्यु स्वच्छन्दता पूर्वक लड़की को ले गये।

विदेशी और विधर्मी राजा के लिए प्रजा की संहित का नष्ट होना सुविधा की ही बात है। खाद्य यदि आकार में बड़ा हो तो टुकड़े करके खाने में ही बुद्धिमानी है। इसी तरह बड़े देश को शासन करने के लिये उसको नाना भाव से विच्छिन्न और असंहत कर देना ही ग्रास करने में

---

[1]बृहद्धर्म पुराण, उत्तर ४।४८

सुविधाजनक है। यहाँ जातिभेद ने पहले से ही इस बात की सुविधा कर रखी है। इसलिये पुराने जमाने में छोटी जाति के आदमियों का ऊँची जाति में बदल जाना जितना सरल था, मुसलमानी जमाने में उतना सहज नहीं रहा और आजकल तो और भी कठिन है। इसमें आज नाना प्रकार की बाधाएँ विद्यमान हैं। किसी एक देश को दबा रखने के लिए उस देश के जितने प्रकार के जातिगत और धर्मगत भेद हैं सबको जगा रखने में ही सुभीता है। विशेष रूप से विदेशी और विधर्मी के लिए तो यह भेद प्रथा देवदत्त आशीर्वाद ही है।

उन दिनों विदेशी सरकार जो मनुष्यगणना कराती थी उसे देखकर एक बात जो जी में उठती थी उसे कहे बिना नहीं रहा जाता। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है भेदभाव भूल जाना। किन्तु सरकार जिस प्रकार जोर देकर हर दसवें साल जाति लिखने के लिए लोगों को मजबूर करती थी उससे वे लोग भी जिनमें यह भेद-भाव अधिक नहीं था, या जो भूलने बैठे थे, बार-बार भेद भाव को खींच खींच कर जीवित रखने के लिए मजबूर किये जाते थे। सरकार के रजिस्ट्री विभाग में जाति लिखाने पर इतना जोर दिया जाता था कि जो लोग जाति नहीं लिखना चाहते उनको भी मजबूरन जातिभेद को याद रखना पड़ता था। मेरे एक चक्रवर्ती ब्राह्मण मित्र को रजिस्ट्रार के आफिस में केवल इसीलिये घंटों हैरान किया गया कि जाति नहीं लिखाना चाहते थे। मज़ा यह था कि रजिस्ट्रार से लेकर क्लर्क तक सभी उनको भलीभाँति पहचानते थे। तब भी सरकार जाति लिखाने के मामले में इतनी बद्धपरिकर थी! सन् १९२१ के सेंसस रिपोर्ट में लिखा है कि पञ्जाब की निम्नतर श्रेणियों में जातिभेद बहुत कम उग्र है। किन्तु मनुष्य गणना का खाना भराने पर बार-बार जोर देकर उनमें की भेद-बुद्धि को प्रतिदिन जागृत किया जाता रहा[१]।

---

[१] Cens. Ind. 1921, Vol, I, Part 1, P. 223 टिप्पणी

सिख लोग जातिभेद नहीं मानते पर सेंसस वाले उनसे जातिभेद लिखाकर ही छोड़ेंगे। इस बात को लेकर इतना झमेला बढ़ा कि अन्त में मजबूर होकर सरकार को यह आदेश जारी करना पड़ा कि यदि पंजाब और उत्तर पश्चिम सीमान्त के सिख लोग जाति न लिखना चाहें तो उन्हें मजबूर न किया जाय[1]।

कहते हैं इङ्गलैंड के राजा धर्म के रक्षक हैं। वही यहाँ के भी सम्राट् हैं तो धर्म और जातपाँत और सम्प्रदाय के प्रधान रक्षक अंग्रेज सरकार ही है। जो भेदभाव युगधर्म और काल के प्रभाव से नाश होने को जा रहा है उसे यत्न पूर्वक जीवित रखना और उसे परिवर्द्धित और पोषित करने का भार भी सरकार ने स्वयं उठा लिया है। किन्तु आश्चर्य तब होता है जबकि उन्हीं लोगों की ओर से हमारी अयोग्यता के प्रमाण स्वरूप यह कहा जाता है कि हममें जात-पाँत और सम्प्रदाय का भेद-विभेद है। फिर क्यों इन भेद-विभेदों को जिला रखने के लिए वे इतने व्याकुल हैं?

सेंसस रिपोर्ट में एक मजेदार बात यह भी है कि समय-समय पर सेंसस के कर्मचारी अपनी जाति और सम्प्रदाय की प्रतिष्ठावश जान-बूझकर मनुष्य गणना में गलत बात लिखा देते हैं।[2]

---

[1] Cens. Ind. 1921, Vol, I, Part l, पृ० २२६ पैरा १६७

[2] वही, पृ० ११६।१२०

१६. सामाजिक अविचार के भीतर से भी व्यक्ति महिमा की जीत

जिस समाज में चरित्र, गुण, मनीषा, साधना और तपस्या की अपेक्षा जन्मगत जाति का आदर ही अधिक है, वह समाज किसी प्रकार अग्रसर नहीं हो सकता। नारद, विदुर, व्यास आदि महापुरुषों का जन्म तो बहु दोषयुक्त है किन्तु साधना और तपस्या के बल पर समाज में उन्हें कितना उच्च पद मिला था। हीन वंश में जन्म होने से कोई हीन नहीं हो जाता। अनेक समय हीन कही जानेवाली जातियों में ऐसे महापुरुषों का जन्म होता है जिनके चरित्र की किसी से तुलना नहीं की जा सकती। महाभारत में एक द्विज और व्याध की कथा है। उस व्याध का ज्ञान और साधना देखकर विस्मित होना पड़ता है[1]। शूद्र पैजवन के दान और उदारता की सीमा नहीं है (शान्ति ६० अध्याय)। ऐंद्राग्नि विधान में उन्होंने दान दिया था। वैश्य तुलाधार के साथ जाजालि का संवाद भी ज्ञान गर्भित है[2]। तुलाधार वृहद्धर्म पुराण के अनुसार व्याध थे। उपदेश देकर उन्होंने ब्राह्मण जाजालि के अन्तर का संशय दूर किया था। हम इसके पहले ही देख चुके हैं कि प्राचीन काल में शूद्रों में कैसे-कैसे तपस्वी हो गये हैं।

परन्तु स्मृति ग्रन्थों में लिखा है कि शूद्र यदि किसी ब्राह्मण को उपदेश दे तो राजा को चाहिए कि उसके मुख और कान में खौलता हुआ तेल डाल दे[3]। मनुस्मृति के आठवें अध्याय में (श्लोक २६७-२८६) में जो विधान बताया गया है, वह द्रष्टव्य है।

---

[1] वन० २०६।११५

[2] शान्ति० २६३ अध्याय

[3] मनु० ८.२७२

भगवान् बुद्धदेव के बाद ही बौद्ध संघ में जिनका सर्वाधिक सम्मान था वे उपालि जाति के नाई थे। सुनीत पुक्कस थे, फिर भी थेरगाथा में उनके श्लोक उद्धृत हैं। साति मछुए थे और नन्द थे जाति के ग्वाले। ये दोनों ही पंठक अभिजात वंशीय कन्या के गर्भ से उत्पन्न जारज सन्तान थे। तपस्विनियों में चम्पा मृगयाजीवी व्याध की कन्या थीं। पुन्ना और पुन्निका दास की पुत्री थीं। सुमगल माता जाति की वेण थीं। सुभा लुहार की लड़की थी[1]। इस प्रकार और कहाँ तक गिनाया जाय।

दक्षिण भारत के तमिल भक्तों में अनेक शूद्र थे। थायु मानुवर, सिद्धियर, पात्तिनातु पिल्लेयर, अमृतसकैनर प्रभृति भक्त शूद्र थे। अरुण गिरि, नाथर, अरुमुण्ड नाथर, आदि भी ब्राह्मण नहीं थे। नाम्मालवर या मुनिवाहन, अस्पृश्य जाति के थे। कुरल नामक अपूर्व भक्तिशास्त्र रचयिता तिरुवल्लुवर अति नीच जाति के थे। कण्ठप्पनयन् व्याध थे। पंहति सित्तार शूद्र से भी नीची जाति के हैं। थिसमल नायनार अन्त्यज थे और भक्त नन्दनार अस्पृश्य परिया थे। अलवार भक्तों में से अनेकों जाति में नीच थे पर भक्ति में अपूर्व थे। उनके वाणी और भजन कितने मधुर हैं। आजकल ब्राह्मणों के घर में भी किसी भी पवित्र अनुष्ठान का होना असम्भव है यदि ये गान न गाये जायँ। पहले ही कह चुका हूँ कि चिदांवरम् के मन्दिर में इसी अस्पृश्य परिया की मूर्ति है। आचार्य रामानुज इन भक्तों को पूर्व भागवतों में स्थान देकर भारतवर्ष का बड़ा उपकार कर गये हैं। महाराष्ट्र के तुकाराम नामदेव आदि भक्तगण शूद्र होकर भी ब्राह्मणों के गुरु हो गये हैं। बङ्गाल में चैतन्यदेव की कृपा से बहुत से ब्राह्मणों ने निम्नतर वर्णों के गुरुओं के निकट दीक्षा ली है। आज भी यह रीति समान भाव से ही चली आ रही है। आज भी दक्षिण भारत के विख्यात नारायण गुरु थिया जाति में पैदा हुए हैं।

असम के शंकरदेव जाति के शूद्र थे। महापुरुषिया सम्प्रदाय के

---

[1] Sacred. Bud. II, 102

प्रवर्तक यही हैं। बाद में इन्हीं की धारा में दामोदर ने एक नया सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। दामोदर ब्राह्मण थे, इसलिये इस सम्प्रदाय को 'बामुनिया' (ब्राह्मणीय) कहते हैं। बाद में चलकर बामुनिया वालों ने अपने पुराने शूद्र गुरु का नाम मिटा दिया और असम के भक्तों को नये सिरे से वर्णाश्रम के बन्धन में बाँधा।

असल में जिन भक्तों ने भक्ति धर्म को भारतवर्ष में फैलाया है उनमें द्रविड़ भक्त ही अतिशय प्राचीन हैं। इसीलिये पद्मपुराण में स्वयं भक्ति कहती है "मैं द्रविड़ देश में जन्मी, कर्नाटक में बढ़ी, महाराष्ट्र में कुछ दिन वास किया और गुजरात में आकर जीर्णावस्था को प्राप्त हुई[1]।

मध्ययुग में उत्तर भारत के कबीर, रैदास, सेना, सदना, धन्ना, दादू, नाभा आदि सन्त-भक्तों का जन्म अत्यन्त नीच कुल में हुआ था। बंगाल में आउल-बाउलों में कोई नमःशूद्र, कोई कपाली, कोई जेलेकैवर्त्त कोई भुँइमाली आदि अति हीन समझे जाने वाले कुल में पैदा हुए थे। आज भी ब्रजेन्द्र शील, महेन्द्र सरकार, महात्मा गाँधी, मेघनाद साहा आदि का स्थान क्या किसी ब्राह्मण से नीचे दिया जाना चाहिए? अथवा यदि शास्त्र मानकर इनके ज्ञान ध्यान और साधना की उपेक्षा की जाय तो भारतवर्ष में रह क्या जाता है? आज लोग महात्मा गाँधी के उपदेश को वेद वाक्य जैसा समझते हैं; किन्तु देशाचार और लोकाचार क्या ऐसा करने की सम्मति देता है? हमें मानव मात्र की अनिवार्य एकता में सम्पूर्ण आस्था रखनी चाहिए।

---

[1] उत्तर० १६३।५१